अश्वघोष-कृत

बुद्धचरित

पहला भाग, सर्ग १-१४

(मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद)

अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०

प्रथम संस्करण] दिसम्बर १९४२ ई० [मूल्य १॥)

प्रकाशक

संस्कृत-भवन

कठौतिया, पो० काझा

जि० पूर्णियाँ

(बिहार)

विक्रम संवत् १९९९

बुद्ध संवत् २४८६

मुद्रक

ओमप्रकाश कपूर

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस

बनारस

(६२-४२)

निवेदन

जिस पवित्र इक्ष्वाकु-वंश में दाशरथि राम का जन्म हुआ था, उसी में शौद्धोदनि सिद्धार्थ भी पैदा हुए थे। राम प्राग् ऐतिहासिक काल के हैं और सिद्धार्थ (=बुद्ध) आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुए थे। हजारों वर्षों से करोड़ों व्यक्ति प्रतिदिन राम और बुद्ध को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए अपने को पवित्र करते आ रहे हैं। राम ने कौटुम्बिक जीवन और सुराज्य का आदर्श उपस्थित किया, जब कि बुद्ध ने कुटुम्ब एवं राज-पाट को छोड़कर सत्य और सन्मार्ग का स्वयं दर्शन किया और लोगों को भी उदेश दिया।

बुद्ध के परमभक्त साकेत-निवासी महाकवि अश्वघोष ने "बुद्धचरित" नामक बुद्ध का जीवनचरित लिखा है। "बुद्धचरित" एक उत्तम काव्य है, कलाकार की कृति है। इससे भी बढ़ कर इसमें सन्मार्ग से भटके हुए लोगों के लिए कल्याण-कारी संदेश है। कवि के शब्दों में ही "मनुष्यों के हित व सुख के लिए, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने के लिए यह काव्य रचा गया"। वास्तव में संस्कृत या पालि में बुद्ध की ऐसी सुन्दर जीवनी और दूसरी देखने में नहीं आती।

अवश्य ही हमने "बुद्धचरित" की उपेक्षा की है। यही कारण है कि "बुद्धचरित" हमें अधूरा ही मिला और इसकी टीका तो एक भी उपलब्ध नहीं है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसका कोई अनुवाद न देखकर, मैंने यह अनुवाद करने की धृष्टता की है, जिसके लिए, आशा है, उदार विद्वान् पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

सारनाथ के बौद्ध साधु श्री सुमन जी के परामर्श एवं प्रेरणा से अनुवाद के साथ मूल संस्कृत भी दे दिया गया है। अनुवाद करने में डा० जौन्सटन-कृत अंग्रेजी अनुवाद से मुझे बड़ी सहायता मिली है। सातवें सर्ग तथा आठवें के शुरू का अनुवाद सुधांशुजी ने मेरे साथ बैठ कर दुहरा देने की कृपा की है। पहले और चौदहवें सर्ग के अप्राप्त १०० श्लोकों के हिन्दी-अनुवाद का आधार है डा० जौन्सटन का अंग्रेजी अनुवाद, जो कि तिब्बती अनुवाद के आधार पर किया गया है और जो "बुद्धचरित" के द्वितीय भाग में पञ्जाब विश्वविद्यालयद्वारा प्रकाशित हुआ है।

अनुवाद के कुछ अंश "धर्मदूत", "प्राचीन भारत", "आरती" और "जीवन-साहित्य" में छप चुके हैं। "धर्मदूत" (मार्च १९४२) में प्रकाशित "आम्रपाली के उपवन में भगवान् बुद्ध" तथा "आरती" (अप्रैल १९४२) में प्रकाशित "क्रोध" शीर्षक अंश क्रमशः बाईसवें और तेईसवें सर्ग के हैं।

इस पुस्तक का अधिकांश (पृष्ठ १–२२० तथा क-घ) केवल पन्द्रह-सोलह दिनों में (अक्तूबर के पहले पखवारे में) छपा है। इस शीघ्रता के लिए श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस के कर्मचारीगण मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पुस्तक के लिए "अखिल भारतीय हिन्दू (आर्य) धर्म सेवासङ्घ से १००) रुपए की सहायता मिली है। इस उदारता के लिए मैं सङ्घ का कृतज्ञ हूँ।

कठौतिया
५–११–४२

सूर्यनारायण चौधरी

अश्वघोष और उसकी कृतियाँ

संस्कृत के अधिकांश कवियों की जीवनी के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। उन्हीं में से अश्वघोष भी एक है। इस कवि का समय निरूपण करने में निम्न-लिखित बातें विचारणीय हैं :—

१—बुद्धचरित का चीनी अनुवाद पाँचवीं सदी के आरम्भ में हुआ था; अतः इसके पहले अश्वघोष ने बुद्धचरित लिखा होगा।

२—अश्वघोष और कालिदास की शैली से प्रमाणित होता है कि अश्वघोष कालिदास से शताब्दियों पूर्व हुआ था। साधारणतः कालिदास गुप्त-काल का बताया जाता है।

३—चीनी परम्परागत कथाओं के अनुसार अश्वघोष कनिष्क का समकालीन और अभिधर्म की व्याख्या 'विभाषा' का लेखक बताया जाता है। कनिष्क के राज्य-काल में विभाषा की रचना हुई थी, ऐसा कहा जाता है।

४—अश्वघोष-कृत शारिपुत्रप्रकरण की पाण्डुलिपि के हस्त-लेख या लिपि को देखने से पता चलता है कि यह कनिष्क या हुविष्क के समय की है—प्रो० ल्युडर्स (Lüders)।

५—"व्यवसाय द्वितीयोऽथ......सोऽश्वत्थमूलं प्रययौ"—बु० च० बारह ११५। नामसङ्गीति की व्याख्या में मातृचेट् का यह वाक्य सुरक्षित है—"व्यवसाय-द्वितीयेन प्राप्तं पदमनुत्तरम्।" मातृचेट् द्वारा किया गया 'व्यवसाय-द्वितीय' पद का प्रयोग अच्छा नहीं है, क्योंकि उत्तम पद (=बुद्धत्व) प्राप्त करने में साथी की जरूरत नहीं है। सम्भवतः मातृचेट् ने अश्वघोष का अनुकरण किया है। मातृचेट्-कृत 'शतपञ्चाशतिक' की शैली को देखते हुए भी यह कहा जाता है कि वह अश्वघोष की शैली से पीछे की है। मातृचेट्

ने कनिष्क को एक पत्र लिखा था। अतः मातृचेट् कनिष्क का समकालीन था और अश्वघोष कनिष्क से पहले हुआ था—डा० जौन्सटन।

उपर्युक्त बातों पर विचार कर हम कह सकते हैं कि अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था या उससे कुछ ही पूर्व हुआ था। कठिनाई तो यह है कि कनिष्क का समय भी निश्चित नहीं। बहुत से लोग उसका समय प्रथम शताब्दी का अन्तिम चरण बताते हैं और द्वितीय शताब्दी के दूसरे चरण के बाद उसका समय कोई नहीं बताता। डा० जौन्सटन का कहना है कि ५० ई० पू० और १०० ई० के बीच उस कवि का प्रादुर्भाव हुआ था। आज १९४२ ई० में हम कह सकते हैं कि अश्वघोष आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।

अश्वघोष सुवर्णाक्षी का पुत्र और साकेत-निवासी था *। उसका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था और ब्राह्मण-धर्म की ही शिक्षा-दीक्षा उसे मिली थी। उसके ग्रन्थों को पढ़कर हम कह सकते हैं कि उसने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों और शास्त्रों का अवश्य अध्ययन किया होगा। बौद्ध-धर्म के गुणों से आकृष्ट होकर वह बौद्ध हो गया। स्वयं बौद्ध होकर ही वह संतुष्ट नहीं हुआ बल्कि उसका उपदेशक और प्रचारक भी हुआ। इस काम के लिए उसने काव्य और सङ्गीत का सहारा लिया था। उसके ग्रन्थ बौद्ध-धर्म के सुन्दर उपदेशों से भरे हैं और उनमें से कई का मुख्य विषय तो धर्म-परिवर्तन ही है। कहा जाता है कि गायकों और गायिकाओं की टोली बनाकर बाजे के साथ जीवन की अनित्यता के मनोहर गीत गा गा कर वह लोगों को अपने धर्म की ओर आकृष्ट किया करता था। चीनी तीर्थ-यात्री इत्सिङ्ग, जिसने ६७१ ई० से ६९५ ई० तक भारत-भ्रमण किया था, बतलाता है कि अश्वघोष बौद्ध

* "आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्"—कविकृत सौन्दरनन्द का अन्तिम वाक्य।

धर्म का प्रबल समर्थक था और उस समय के बौद्ध मठों में इसकी रचनाओं का गान हुआ करता था। 'नागार्जुन' 'अश्वघोष' और 'देव' को एक श्रेणी में रखते हुए उसने यह भी कहा है कि ऐसे पुरुष प्रत्येक पीढ़ी में एक या दो ही होते हैं। हुएनसाङ्ग के अनुसार अश्वघोष, देव, नागार्जुन और कुमारलब्ध (=कुमारलात) चार सूर्य हैं, जिन्होंने विश्व को प्रकाशित किया था।

बौद्ध भिक्षु होने के सिवा वह वाल्मीकि और कालिदास की कोटि का महाकवि था। काव्य-विकाश के क्रम में वह वाल्मीकि के बाद और कालिदास के पहले आता है। काव्य में जिस तरह वह वाल्मीकि का ऋणी और उत्तराधिकारी था वैसे ही कालिदास भी उसका ऋणी था। बौद्ध कवि होने के ही कारण वह भारत में सदियों तक अज्ञात-सा रहा। गत कई दशकों में ही उस की अधिकांश कृतियाँ खोज निकाली गई हैं, जिनमें से बहुत -सी, हमारे दुर्भाग्य-वश, खण्डित ही मिलीं।

सूत्रालङ्कार :—

इसका मूल संस्कृत आज उपलब्ध नहीं है। ४०५ ई० में कुमारजीव ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। यह ग्रन्थ तत्कालीन पाली-जातकों से ली गई सुन्दर कथाओं का संग्रह है और बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन है। इत्सिंग ने भी सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लिखे गये अपने यात्रा-विवरण में अश्वघोष-प्रणीत सूत्रालङ्कार का उल्लेख किया है। आगे चल कर न मालूम कब मूल-ग्रन्थ का लोप हो गया। हूबर ने इसके चीनी भाषान्तर का फ्रेन्च अनुवाद (पेरिस १९०८) किया है।

मध्य एशिया में ल्युडर्स-द्वारा प्राप्त कुमारलात की खण्डित कल्पना-मण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति १९२६ ई० में प्रकाशित हुई। तब से उस पुस्तक और सूत्रालङ्कार के प्रणेतृत्व और तादात्म्य के बारे में भिन्न भिन्न मत प्रतिपादित हुए हैं। मतान्तरों का प्रधान कारण है इन दोनों ग्रन्थों की कथाओं

का एक-सा होना। यहाँ इन सभी मतान्तरों का उल्लेख और विवेचन न कर मैं केवल निम्न-लिखित मत उद्धृत करता हूँ—"कुमारलात की कल्पना-मण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति और सूत्रालङ्कार एक नहीं हैं। पहली दूसरे का अनुकरण है, जो सौत्रान्तिकों के उपयोग के लिए किया गया था। कुमार-जीव-द्वारा अनूदित सूत्रालङ्कार का प्रणेता अश्वघोष है और क० द० का प्रणेता कुमारलात है।"

महायानश्रद्धोत्पादः—

महायान सम्प्रदाय का एक दार्शनिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ केवल दो चीनी संस्करणों में उपलब्ध है; इस ग्रन्थ का प्रणेतृत्व विवादास्पद है। हुएनसाङ्ग की जीवनी में इसका प्रणेता प्रसिद्ध अश्वघोष बताया गया है। किसी का कहना है कि कवि अश्वघोष दार्शनिक अश्वघोष से भिन्न है या यह किसी तीसरे का ही बनाया हुआ है और अश्वघोष की प्रसिद्धि के ही कारण उस पर इसका प्रणेतृत्व आरोपित किया गया है। कुछ जापानी विद्वानों के अनुसार यह संस्कृत-ग्रन्थ नहीं, वरन् चीनी ग्रन्थ है। जापान के स्कूलों और मठों में इसका खूब प्रचार है।

वज्र-सूची :—

यह पुस्तक वज्र की सूई की तरह वर्ण-व्यवस्था के समर्थकों को चुभती है। इसमें श्रुति, स्मृति और महाभारत के उद्धरणों से ही वर्ण-व्यवस्था की कठोर आलोचना की गई है। "दुःख-सुख, जीवन-प्रज्ञा, व्यवसाय-व्यापार, जन्म-मरण, भय-काम में सब श्रेणी के लोग बराबर हैं।" इस तरह इस पुस्तक में सभी मानव-श्रेणियों की जो समानता प्रतिपादित की गई है, इससे इस पुस्तक के यूरोपीय अनुवादक और सम्पादक मुग्ध हैं। इसके चीनी अनुवादक के अनुसार मूल-ग्रन्थ का लेखक धर्मकीर्त्ति है।

गण्डीस्तोत्र गाथा :—

यह एक सुन्दर गेय कविता है; बुद्ध और सङ्घ की स्तुति है। इसमें

केवल २९ पद्य हैं। अधिकांश स्रग्धरा छन्द में हैं। एक यूरोपीय विद्वान् ने इसकी चीनी प्रतिलिपि के आधार पर फिर इसे मूल संस्कृत में लिखा है।

राष्ट्रपाल :—

स्वर्गीय सिलवाँ लेवी के अनुसार अश्वघोष शायद एक गेय नाटक का भी लेखक है। इसमें राष्ट्रपाल की कथा कही गई है।

शारिपुत्रप्रकरण आदि तीन नाटक :—

अत्यन्त प्राचीन समय में ताड़-पत्र पर लिखित तीन नाटकों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। एक के अन्तिम वाक्य से इसका नाम, प्रणेता का नाम और अङ्क-संख्या स्पष्ट हैं। ग्रन्थ का नाम शारिपुत्रप्रकरण या शारद्वतीपुत्रप्रकरण है, प्रणेता है सुवर्णाक्षी का पुत्र अश्वघोष और अङ्कों की संख्या नौ है। शा० प्र० में उन घटनाओं का वर्णन है, जिनके परिणामस्वरूप मौद्गल्यायन और शारिपुत्र बुद्धद्वारा बौद्ध बनाये जाते हैं। अश्वजित् से मिलने के बाद शारिपुत्र अपने मित्र विदूषक से बुद्ध के उपदेशक होने के अधिकार के बारे में बहस करता है। विदूषक कहता है कि शारिपुत्र-सरीखे ब्राह्मण को क्षत्रिय का उपदेश-ग्रहण नहीं करना चाहिए। किन्तु 'जिस तरह जल से ताप शान्त होता है उसी तरह नीच जाति के भी वैद्य-द्वारा दी गई दवा बीमारी के लिए हितकर ही होती है', यह कहकर शारिपुत्र अपने मित्र की बात काट देता है। मौद्गल्यायन शारिपुत्र से मिलता है और उससे उसकी प्रसन्नता का कारण जानता है। दोनों बुद्ध के पास जाते हैं। वह उनका सत्कार करता है और उनसे भावी ज्ञान-आदि के बारे में भविष्यद्वाणी करता है। प्रकरण के अन्त में शारिपुत्र और बुद्ध के बीच दार्शनिक वार्तालाप होता है। दोनों शिष्यों की प्रशंसा कर बुद्ध भरत-वाक्य उच्चारण करता है।

रूपक अर्थात् ड्रामा के दस भेद हैं, उनमें से एक प्रकरण है। शारिपुत्र-प्रकरण अधिकांश बातों में नाट्य-शास्त्र के और कुछों में व्यवहार के अनुकूल

है। इस प्रकरण में नौ अङ्क हैं ; नायक धीर और प्रशान्त विप्र है ; नायिका कुलजा स्त्री या वेश्या है, पता नहीं ; कवि-कल्पना-द्वारा सच्ची घटना में परिवर्तन किया गया है ;—ये बातें शास्त्र-सम्मत हैं। अङ्कों के नाम नहीं हैं, भरत-वाक्य के पहले 'अतः परमपि प्रियमस्ति' नहीं है और नायक के मुख से भरत-वाक्य का उच्चारण नहीं हुआ—ये बातें व्यवहार-सम्मत हैं। सर्वज्ञ बुद्ध के रहते हुए किसी और के मुख से भरत-वाक्य का उच्चारण उचित भी नहीं होता। अन्तिम अङ्क से विदूषक का निकल जाना प्रकरण-कार की सुरुचि का परिचायक है, क्योंकि बुद्ध के उपदेश ग्रहण कर लेने के बाद शारिपुत्र को विदूषक-जैसे मनोरञ्जक पात्र की जरूरत नहीं रह जाती। दोनों नायक, बुद्ध और उसके शिष्य संस्कृत गद्य-पद्य में बोलते हैं। इन शिष्यों में कौण्डिन्य और एक श्रमणक भी हैं। विदूषक प्राकृत में बोलता है।

जिस ग्रन्थ में शारिपुत्रप्रकरण है उसी में दो और रूपकों के अवशेष हैं। अन्दाज किया जाता है कि इनका भी प्रणेता अश्वघोष ही होगा। इसके लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। दूसरे रूपक के अवशेष और अश्वघोष की अन्य कृतियों में सादृश्य पाया जाता है। यह सादृश्य केवल शैली में ही नहीं, प्रत्युत उपमा तक में पाया जाता है :—

"खे वर्षत्यम्बुधारं ज्वलति च युगपत् संध्याम्बुद इव"—रूपक।

युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्च मेघवत्।
तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः॥

—सौन्दरनन्द, ३,२४॥

यह नाटक एक खास तरह का है। बुद्धि कीर्त्ति, और धृति इसके पात्रों में से हैं। ये रङ्गमञ्च पर आकर बातचीत करती हैं और पीछे बुद्ध भी पधारता है। सभी पात्र संस्कृत में ही बोलते हैं। बुद्धि कीर्त्ति से कहती है—"नित्यं स सुप्त इव यस्य न बुद्धिरस्ति"। इस नाटक का अवशेष अति

अल्प है, अतः इसके बारे में अधिक नहीं कहा जा सकता। ऐसा नाटक दसवीं शताब्दी तक और कोई दूसरा नहीं मिलता। ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने इस तरह का प्रबोधचन्द्रोदय नामक एक नाटक लिखा था। बाद में ऐसे बहुत से नाटक लिखे गये।

दूसरे नाटक की तरह तीसरे के नाम का भी पता नहीं है। इसके पात्रों में मगधवती नाम की एक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक एक विदूषक, शायद सोमदत्त नामक नायक, एक दुष्ट, धनञ्जय नामक शायद एक राजकुमार, एक दासी, शारिपुत्र और मौद्गल्यायन हैं। वेश्या, दासी और दुष्ट प्राकृत में बोलते हैं और शेष संस्कृत में। एक जीर्ण उद्यान और वेश्या का घर नाटक के स्थान हैं, और पात्र-गण प्रवहण (=गाड़ी) में चढ़ते हुए बताये जाते हैं—इन बातों में यह नाटक मृच्छकटिक से मिलता-जुलता है। दूसरे नाटक की भाँति इसका भी अवशेष बहुत कम है, इसलिए इसके बारे में भी अधिक नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह नाटक भी बौद्ध धर्म विषयक है, इसमें सन्देह नहीं।

बुद्धचरित:—

यह एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्ध के सिद्धान्त और जीवन-वृत्तान्त हैं। संस्कृत-ग्रन्थ में केवल १७ सर्ग हैं जिनमें अन्तिम चार १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में अमृतानन्दद्वारा जोड़े गए हैं। पूरा ग्रन्थ नहीं मिलने के कारण ही उसने ऐसा किया, यह वह स्वयं स्वीकार करता है। धर्मरक्ष, धर्मक्षेम या धर्माक्षर नामक एक भारतीय विद्वान् ने (४१४-२१ ई०) इस काव्य का चीनी अनुवाद किया था, जिसमें २८ सर्ग हैं और कथा बुद्ध के निर्वाण तक चली गई है। इत्सिंग के वर्णन से भी पता चलता है कि उसे इस काव्य का यह बड़ा आकार मालूम था। सातवीं या आठवीं शताब्दी में किये गये तिब्बती अनुवाद में भी २८ सर्ग हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद

शास्त्री-द्वारा प्राप्त ग्रन्थ चौदहवें सर्ग के मध्य तक ही जाता है। निस्सन्देह संस्कृत-बुद्धचरित अधूरा है। कहा जाता है कि तिब्बती-अनुवाद इतना अविकल है कि इसके आधार पर संस्कृत में बुद्धचरित के अप्राप्त अंशों का पुनरुद्धार हो सकता है।

बुद्धचरित की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हुआ इत्सिंग कहता है—"भारत के पाँचों प्रान्तों और दक्षिण सागर के देशों (=द्वीपों) में सर्वत्र इसका गान होता है। कवि ने कुछ ही शब्दों में अनेक अर्थ और भाव भर दिये हैं, जिससे पाठक का हृदय इतना आनन्दित हो जाता है कि वह इस काव्य को पढ़ने से थकता ही नहीं।" निस्सन्देह यह एक कलाकार की कृति है। विषय का प्रतिपादन सुन्दर और सुव्यवस्थित ढङ्ग से हुआ है। दृश्यवर्णन सजीव और प्रभावोत्पादक हैं। पाणिनि के व्याकरण से कहीं कहीं फर्क पड़ता है। कविता अनावश्यक अलङ्कारों से लदी नहीं है। चमत्कारपूर्ण या आश्चर्यजनक घटनाओं के वर्णन में कवि नियन्त्रित जान पड़ता है।

प्रणय-दृश्य का चित्रण महाकाव्य का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। राजकुमार को लुभाने की कोशिश करने वाली सुन्दरियों के निष्फल प्रयत्न दिखाकर ही कवि इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। महल से निकलते राजकुमार को देखने के लिए इकट्ठी हुई स्त्रियों का सजीव चित्रण और महाभिनिष्क्रमण के समय सुप्त सुन्दरियों का दृश्य कवि के कामशास्त्र-विषयक ज्ञान का परिचायक है। चौथे सर्ग में कुल-पुरोहित ने राजकुमार को नीतिशास्त्र का जो उपदेश दिया है उससे कवि के तत्सम्बन्धी ज्ञान का पता लगता है। युद्ध-वर्णन भी महाकाव्य का एक जरूरी अंग है। कवि ने मार और बुद्ध का युद्ध दिखाकर काव्य-कौशल का परिचय दिया है।

अन्तिम पद्य में ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए कवि ने कहा है कि काव्य-कौशल या पाण्डित्य दिखाने के लिए नहीं, किन्तु जगत् के सुख और

उपकार के लिए यह ग्रन्थ रचा गया है। निस्सन्देह इस ग्रन्थ में धन के पीछे उन्मत्त जगत् के लिए ओषधि है, विषय-सेवन के चिन्तन से आकुल लोगों के लिए सदुपदेश है और तृष्णा से दग्ध संसार के लिए संतोष-जल का झरना है।

सौन्दरनन्द :—

यह एक अठारह सर्गों का काव्य है। इसकी दो ही प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियाँ मिली हैं। दोनों दूषित तथा बुरी दशा में हैं और दोनों नेपाल महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इनके आधार पर शुद्ध और कहीं कहीं पूरा पाठ निश्चित करना असम्भव-सा है। सौन्दरनन्द बौद्ध धर्म के बहुमूल्य उपदेशों से भरा है। यह हीनयान सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, किन्तु कहीं कहीं इसमें महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भी उल्लेख है। बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी जो कई दृश्य और घटनाएँ बुद्धचरित में संक्षिप्त हैं या बिलकुल नहीं हैं वे ही सौन्दरनन्द में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। इस दृष्टिकोण से इसे बु० च० का पूरक कहना बुरा न होगा।

सौन्दरनन्द में सुन्दरी और नन्द की ही कथा प्रधान है। सुन्दरी नन्द की स्त्री थी और नन्द बुद्ध का भाई था। नन्द सुन्दरी में बड़ा आसक्त था। बुद्ध ने अनिच्छुक नन्द को अपने धर्म में दीक्षित किया। पत्नी से वियुक्त होकर नन्द बड़ा दुःखी हुआ, बहुत रोया और सुन्दरी के पास घर लौट जाना चाहा। भिक्षुओं ने उपदेश-भरे शब्दों में उसे समझाने की खूब कोशिश की, किन्तु सब व्य र्थ था। तब बुद्ध उसे लेकर हिमालय की ओर गया। वहाँ एक कानी शाखामृगी दिखाते हुए उसने पूछा—"हे नन्द, इस कानी वनरी और अपनी प्रियतमा में से तुम किसे अधिक रूपवती और विलासवती समझते हो?" मुसकुराते हुए नन्द ने कहा—"हे भगवन्, कहाँ वह उत्तम स्त्री आप की वधू और कहाँ यह पेड़ को पीड़ा पहुँचानेवाली मृगी!" फिर इन्द्रलोक

में अप्सराओं को दिखाकर बुद्ध ने नन्द से अप्सराओं और उसकी प्रियतमा के बीच का अन्तर पूछा। उसने उत्तर दिया—"हे नाथ, उस कानी मृगी और आप की वधू में जो अन्तर है, वही है इन अप्सराओं और आप की बेचारी वधू में।" अब अप्सराओं पर मुग्ध होकर नन्द ने उन्हें पाना चाहा। बुद्ध ने बताया कि रूप, सेवा, बल या दान से वे नहीं पाई जा सकतीं; उन्हें पाने का एकमात्र शुल्क या सफल साधन उत्तम तप है। तब वह तपस्वी हो गया और वीतराग की भाँति आनन्द और विषाद से मुक्त हो गया। बुद्ध के शिष्य आनन्द ने नन्द को बताया कि स्वर्ग के आनन्दों का उपभोग क्षणिक है और स्वर्ग-निवास प्रवास-मात्र है, क्योंकि पुण्य क्षीण होने से लोग वहाँ से लौट आते हैं। आनन्द के वचन की यथार्थता समझकर नन्द अप्सराओं से विमुख हो गया। बुद्ध के पास जाकर अपनी अवस्था बताते हुए उसने कहा—"(अब) मैं सभी दुखों के नाशक आपके परम धर्म में ही आनन्द पाता हूँ। अतः संक्षेप और विस्तार से इसकी व्याख्या कीजिए, जिसे सुनकर मैं परम-पद पाऊँ।" उसने बुद्ध के उपदेश सुने, तदनुसार प्रयत्न किया और वह अर्हत् हो गया। कृतार्थ हो नन्द ने बुद्ध के दर्शन किये। गुरु और शिष्य एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हुए। दोनों ने एक दूसरे की हृदय से तारीफ की। कृतज्ञ शिष्य ने गुरु से प्रतीकार का कुछ उपाय पूछा। गुरु ने परोपकार करने का आदेश दिया। शिष्य को सम्बोधित करते हुए उसने कहा—"वही जन उत्तम से उत्तम माना जाता है जो उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर अपने परिश्रम का ख़याल न करता हुआ दूसरों को भी शम (=शान्ति) का उपदेश देता है। अतः, हे स्थिरात्मन्, रात्रिकाल में भटकते हुए तमोवृत जीवों के बीच इस धर्म-प्रदीप को धारण करो। घर में वधू भी तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियों को विराग का उपदेश देगी।"

अन्त में इस काव्य का प्रयोजन बताते हुए कवि ने कहा है—"प्रायः

लोगों को विषय-रत और मोक्ष-विमुख देखकर मैंने काव्य के बहाने सत्य का उपदेश दिया है। मोक्ष ही सब से ऊपर है। इस (ग्रन्थ) में मोक्ष के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने ही के लिए (कहा गया है), जैसे कड़वी दवा को पीने लायक बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है।"

विषय-सूची

बुद्धचरित

पहला सर्ग

भगवान् का जन्म

*   *   *   *   *

इक्ष्वाकु-वंश में शुद्धोदन नामक राजा हुआ। वह अजेय शाक्यों का अधिपति था। इक्ष्वाकु के समान प्रभावशाली था। उसका आचरण पवित्र था। अपनी प्रजाओं के लिए वह शरच्चन्द्र के समान प्रिय था ॥ १ ॥

उस इन्द्र-तुल्य राजा के शची-सदृश रानी थी, जिसकी दीप्ति राजा की शक्ति के समान थी। वह पद्मा के सदृश सुन्दरी और पृथ्वी के सदृश धीर थी। अनुपम माया के समान होने के कारण उसका नाम महा-माया हुआ ॥ २ ॥

अपनी रानी के साथ विहार करते हुए उस नरपति ने मानो वैश्रवण (कुबेर) के परम ऐश्वर्य का उपभोग किया। तब वह निष्पाप (रानी) गर्भवती हुई, जैसे समाधि-युक्त विद्या फलवती होती है ॥ ३ ॥

गर्भधारण करने से पूर्व उसने स्वप्न में एक श्वेत गज-राज को अपने शरीर में प्रवेश करते देखा; किंतु इससे उसे कुछ कष्ट नहीं हुआ ॥ ४ ॥

उस देव-तुल्य राजा की रानी माया ने अपने गर्भ में अपने वंश की श्री को धारण किया। श्रम, शोक और माया से मुक्त होकर और विशुद्ध होकर, उसने पावन वन (जाने) की इच्छा की ॥ ५ ॥

ध्यान के योग्य एकान्त वन की इच्छा से, उसने विविध वृक्षों से युक्त चैत्ररथ उपवन के समान सुन्दर लुम्बिनी वन में चलकर रहने के लिए राजा से कहा ॥ ६ ॥

भूपति ने कुतूहल और आनन्द के साथ उसकी धार्मिकता से उसका उत्तम आशय जानकर, उसे प्रसन्न करने के लिए, न कि विहार करने के लिए, उस सुन्दर नगर को छोड़ा ॥ ७ ॥

तस्मिन्वने श्रीमति राजपत्नी प्रसूतिकालं समवेक्षमाणा ।
शय्यां वितानोपहितां प्रपेदे नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना ॥ ८ ॥

उस सुन्दर वन में प्रसव-काल समीप देखकर, रानी ने वितान-युक्त शय्या का आश्रय लिया। उस समय हजारों स्त्रियों ने उसका अभिनन्दन किया ॥ ८ ॥

ततः प्रसन्नश्च बभूव पुष्यस्तस्याश्च देव्या व्रतसंस्कृतायाः ।
पार्श्वात्सुतो लोकहिताय जज्ञे निर्वेदनं चैव निरामयं च ॥ ९ ॥

तब पुष्य नक्षत्र प्रसन्न हुआ और व्रत से पवित्र हुई रानी के पार्श्व से लोक-हित के लिए पुत्र उत्पन्न हुआ; रानी को न पीड़ा हुई और न रोग ॥ ९ ॥

ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्नः ।
कक्षीवतश्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य बभूव जन्म ॥१०॥

जैसे और्व का जन्म जांघ से, पृथु का हाथ से, इन्द्र-तुल्य मान्धाता का मस्तक से, कक्षीवान् का काँख से, वैसे ही उसका जन्म (पार्श्व से) हुआ ॥ १० ॥

क्रमेण गर्भादभिनिःसृतः सन् बभौ च्युतः खादिव योन्यजातः ।
कल्पेष्वनेकेषु च भावितात्मा यः संप्रजानन्सुषुवे न मूढः ॥११॥

काल-क्रम से गर्भ से निकलने पर, वह आकाश से गिरे हुए के समान शोभित हुआ; (क्योंकि) वह जन्म-मार्ग से उत्पन्न नहीं हुआ था। अनेक कल्पों में उसने अपने को पवित्र कर लिया था; अतः वह जागरूक होकर जनमा, मूर्ख होकर नहीं ॥ ११ ॥

दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो रविर्भूमिमिवावतीर्णः ।
तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षूंषि यथा शशाङ्कः ॥१२॥

दीप्ति और धीरता में वह भूतल पर अवतीर्ण बाल-सूर्य के समान शोभित हुआ। उस प्रकार अत्यन्त दीप्त होने पर भी, देखे जाने पर, वह चन्द्रमा के समान आँखें हर लेता था ॥ १२ ॥

स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष ।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः ॥१३॥

अपने शरीर की जलती प्रभा से उसने भास्कर के समान दीप-प्रभा को हर लिया। बहुमूल्य सुवर्ण-सदृश सुन्दर वर्णवाले (बालक) ने सब दिशाओं को प्रकाशित किया ॥ १३ ॥

अनाकुलान्युब्जसमुद्धृतानि निष्पेषवद्व्यायतविक्रमाणि ।
तथैव धीराणि पदानि सप्त सप्तर्षितारासदृशो जगाम ॥१४॥

सप्तर्षि-तारा के समान वह सात पग चला, उसने ये लम्बे और अविचल पग धैर्य-पूर्वक सीधे उठाकर दृढ़ता के साथ रखे ॥ १४ ॥

बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति ।
चतुर्दिशं सिंहगतिर्विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीमुवाच ॥१५॥

और उस सिंह-गति ने चारो ओर देखकर भविष्यद्वाणी की—"जगत् के हित के लिए ज्ञान अर्जन करने के लिए मैं जनमा हूँ, संसार में मेरी यह अन्तिम उत्पत्ति है" ॥ १५ ॥

खात्प्रस्रुते चन्द्रमरीचिशुभ्रे द्वे वारिधारे शिशिरोष्णवीर्ये ।
शरीरसंस्पर्शसुखान्तराय निपेततुर्मूर्धनि तस्य सौम्ये ॥१६॥

चन्द्र-किरण-सदृश दो जल-धाराएँ, एक शीतल और दूसरी गर्म,

आकाश से स्रवित हुई और शरीर स्पर्श कर सुख देने के लिए उसके सौम्य मस्तक पर गिरीं ॥ १६ ॥

श्रीमद्विताने कनकोज्ज्वलाङ्गे वैडूर्यपादे शयने शयानम् ।
यद्गौरवात्काञ्चनपद्महस्ता यक्षाधिपाः संपरिवार्य तस्थुः ॥१७॥

सुन्दर वितान से युक्त, सुवर्ण से उज्ज्वल, वैदूर्य मणि के पादवाले शयन पर वह पड़ा हुआ था । उसके गौरव के कारण यक्षपति-गण अपने हाथों में सुवर्ण-कमल लिए हुए उसे चारों ओर घेर कर खड़े हुए ॥ १७ ॥

* * * दिवौकसः खे यस्य प्रभावात्प्रणतैः शिरोभिः ।
अधारयन् पाण्डरमातपत्रं बोधाय जेपुः परमाशिषश्च ॥१८॥

अदृश्य देवताओं ने उसके प्रभाव से शिर झुकाकर आकाश में श्वेत आतपत्र धारण किया और उसकी बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए उत्तम आशीर्वाद दिये ॥ १८ ॥

महोरगा धर्मविशेषतर्षाद्बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।
यमव्यजन भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दारपुष्पैः समवाकिरंश्च ॥१९॥

जिन्होंने अतीत के बुद्धों की सेवा की थी, उन बड़े-बड़े सर्पों ने धर्म-विशेष की प्यास से उसके ऊपर व्यजन डुलाये और भक्ति के कारण अपनी विलक्षण आँखों से (देखते हुए) मन्दार फूल छींटे ॥ १९ ॥

तथागतोत्पादगुणेन तुष्टाः शुद्धाधिवासाश्च विशुद्धसत्त्वाः ।
देवा ननन्दुर्विगतेऽपि रागे मग्नस्य दुःखे जगतो हिताय ॥२०॥

उस प्रकार जन्म होने के गुण से संतुष्ट होकर, विशुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवासदेव, स्वयं राग–रहित होने पर भी, दुःखमग्न जगत् का (भावी) हित सोचकर, प्रसन्न हुए ॥ २० ॥

यस्य प्रसूतौ गिरिराजकीला वाताहता नौरिव भूश्चचाल ।
सचन्दना चोत्पलपद्मगर्भा पपात वृष्टिर्गगनादनभ्रात् ॥२१॥

उसके जन्म में यह पृथ्वी, जो गिरिराज-रूप कील से स्थिर है वायु से

आहत नाव की भाँति काँपी। मेघ-रहित आकाश से चन्दन-सुवासित वृष्टि हुई, जिसमें लाल नीले कमल गिरे ॥ २१ ॥

वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः।
सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः ॥२२॥

स्पर्श से सुख देनेवाली मनोहर वायु दिव्य वस्त्रों को गिराती हुई बहने लगी। वही सूर्य अत्यधिक चमका। बिना सुलगाये ही आग सौम्य शिखाओं के साथ प्रज्वलित हुई ॥ २२ ॥

प्रागुत्तरे चावसथप्रदेशे कूपः स्वयं प्रादुरभूत्सिताम्बुः।
अन्तःपुराण्यागतविस्मयानि यस्मिन् क्रियास्तीर्थ इव प्रचक्रुः ॥२३॥

आवास-भूमि की उत्तर-पूर्व दिशा में स्वच्छ जल के कूप का आप ही आप प्रादुर्भाव हुआ, जहाँ विस्मित अन्तःपुर-वासियों ने उसी प्रकार क्रियाएँ कीं, जिस प्रकार तीर्थ में ॥ २३ ॥

धर्मार्थिभिर्भूतगणैश्च दिव्यैस्तद्दर्शनार्थं वनमापुपूरे।
कौतूहलेनैव च पादपेभ्यः पुष्पाण्यकालेऽपि * * ॥२४॥

उसके दर्शन के लिए आये हुए धर्माभिलाषी दिव्य प्राणियों से वह वन भर गया। कुतूहल-वश उन्होंने पेड़ों से अकाल में भी (फूले) फूल गिराये ॥ २४ ॥

* * * * *

उस समय विघ्नकारी प्राणी एकत्र हुए और उन्होंने एक दूसरे को क्लेश नहीं दिया। मानव-जाति के जो कुछ रोग थे सब अनायास ही दूर हो गये ॥ २५ ॥

मृग और पक्षी ऊँचे स्वर से बोले नहीं और नदियाँ नीरव जल के साथ बहीं। दिशाएँ स्वच्छ हो गईं और आकाश निरभ्र होकर चमका। गगन में देव-दुन्दुभियाँ बजीं ॥ २६ ॥

जगत् के मोक्ष के लिए गुरु का जन्म होने पर संसार अत्यन्त शान्त

हो गया, जैसे कुव्यवस्था के बीच इसे शासक मिल गया हो। केवल कामदेव को आनन्द नहीं हुआ ॥ २७ ॥

अपने पुत्र का अद्‌भुत जन्म देखकर राजा धीर होने पर भी बहुत क्षुब्ध हुआ और स्नेह के कारण आनन्द तथा भय से उत्पन्न हुई दो अश्रु-धाराएँ (उसकी आँखों से) बहीं ॥ २८ ॥

ऊष्ण और शीतल जल के मिश्रण से बनी धारा के समान रानी आनन्द और भय से भर गई; क्योंकि एक ओर उसके पुत्र की शक्ति (प्रभाव) अमानुषी थी और दूसरी ओर उसमें माता की स्वाभाविक दुर्बलता थी ॥ २९ ॥

केवल भय के ही कारणों को देखती हुई विशुद्ध बूढ़ी स्त्रियाँ ध्यान नहीं कर सकीं। अपने को पवित्र कर तथा भाग्यनिर्माण की क्रियाएँ कर, उन्होंने देवताओं से सौभाग्य के लिए प्रार्थना की ॥ ३० ॥

आचरण, विद्या और वाग्मिता के लिए प्रसिद्ध ब्राह्मणों ने जब ये लक्षण सुने और उन पर विचार किया, तब उज्ज्वल, साश्चर्य और प्रसन्न मुखों से उन्होंने राजा से, जो भीत भी था और प्रसन्न भी, कहा:—॥ ३१ ॥

"भूतल पर मनुष्य अपनी शान्ति के लिए पुत्र को छोड़कर कोई दूसरा गुण नहीं चाहते हैं। आपका यह प्रदीप आपके वंश का प्रदीप है, अतः आज आनन्द और उत्सव कीजिए ॥ ३२ ॥

इसलिए पूरे धैर्य के साथ चिन्ता तजिए और प्रसन्न होइये; आपका वंश निश्चय ही उन्नत होगा। जो आपका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है, वह दुःख में डूबे जगत् का उद्धार करेगा ॥ ३३ ॥

सुवर्ण के समान उज्ज्वल और प्रदीप के समान चमकीले इस गुणवान् के लक्षणों के अनुसार, वह निश्चय ही बुद्धर्षि होगा या पृथ्वी पर मनुष्यों के बीच चक्रवर्ती सम्राट् ॥ ३४ ॥

यदि वह पार्थिव साम्राज्य की इच्छा करे, तो अपने प्रभाव और धर्म

के द्वारा पृथ्वी पर सब राजाओं के ऊपर वह उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार सब ग्रहों के ऊपर सूर्य का प्रकाश ॥ ३५ ॥

यदि वह मोक्ष की इच्छा करे और वन को जाय, तो अपने ज्ञान और सत्य के द्वारा सब सम्प्रदायों को जीतकर वह पृथिवी पर उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार पर्वतों के मध्य गिरि-राज मेरु ॥ ३६ ॥

जैसे धातुओं में विशुद्ध सुवर्ण, पर्वतों में मेरु, जलाशयों में सागर, ग्रहों में चन्द्र और अग्नियों में सूर्य श्रेष्ठ है, वैसे ही मनुष्यों में आपका पुत्र ॥ ३७ ॥

उसकी आँखें निर्निमेष होकर देखती हैं, वे निर्मल और विशाल हैं, चमकीली और स्निग्ध भी, स्थिर और खूब लम्बी काली पपनियोंवाली। उसकी आँखें सब कुछ देख सकती हैं" ॥ ३८ ॥

तब राजा ने द्विजों से कहा:—"क्या कारण है कि उत्कृष्ट गुण, जैसा आप कहते हैं, उसमें देखे जाते हैं, जब कि ये पहले के महात्मा राजाओं में नहीं देखे गये ?" तब ब्राह्मणों ने उन्हें कहा:— ॥ ३९ ॥

* * * निदर्शनान्त्रच च नो निबोध ॥४०॥

"राजाओं की बुद्धि, विख्यात कर्म और यश के सम्बन्ध में पहले और पीछे का प्रश्न नहीं है। यह वस्तु-स्वभाव है कि प्रत्येक कार्य कारण से होता है, अतः हमारे दृष्टान्त आप सुनें ॥ ४० ॥

यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ।
तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥४१॥

हे सौम्य, वंश चलानेवाले भृगु और अङ्गिरा नामक ऋषियों ने जिस राज-शास्त्र को नहीं बनाया उसे उनके पुत्रों ने—शुक्र और बृहस्पति ने समय बीतने पर सृजन किया ॥ ४१ ॥

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवानशक्तिः ॥४२॥

(सरस्वती के पुत्र) सारस्वत ने नष्ट हुए वेद को कहा (=व्यक्त

किया) जिसे पूर्व के लोगों ने देखा नहीं, और व्यास ने इसे कई विभागों में किया जिसे शक्तिहीन वशिष्ठ ने नहीं किया ॥ ४२ ॥

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः ।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥४३॥

पहले पहल वाल्मीकि ने पद्य सृजन किया, जिसे महर्षि च्यवन ने नहीं बनाया, और जिस चिकित्सा-शास्त्र को अत्रि ने (सृजन) नहीं किया उसे बाद को आत्रेय ऋषि ने कहा ॥ ४३ ॥

यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तद्गाधिनः सूनुरवाप राजन् ।
वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबन्धुः ॥४४॥

हे राजन् ! जिस द्विजत्व को (विश्वामित्र के पितामह) कुशिक ने नहीं पाया उसे गाधी के पुत्र (विश्वामित्र) ने प्राप्त किया, और सगर ने सागर की वेला निश्चित की, जिसे शुरू में इक्ष्वाकुओं ने नहीं बाँधा ॥४४॥

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम ।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः ॥४५॥

योग-विधि में द्विजों का आचार्य होने का जो पद दूसरों को प्राप्त नहीं हुआ उसे जनक ने पाया । शौरि ने जो विख्यात कर्म किये उन्हें करने में शूर आदि असमर्थ हुए ॥ ४५ ॥

तस्मात्प्रमाणं न वयो न वंशः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके ।
राज्ञामृषीणां च हि तानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥४६॥

इसलिए प्रमाण न वयस है न वंश । संसार में कोई भी कहीं भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि राजाओं और ऋषियों के पुत्रों ने वे वे काम किये जिन्हें उनके पूर्वजों ने नहीं किया ।" ॥ ४६ ॥

एवं नृपः प्रत्ययितैर्द्विजैस्तैराश्वासितश्चाप्यभिनन्दितश्च ।
शङ्कामनिष्टां विजहौ मनस्तः प्रहर्षमेवाधिकमारुरोह ॥४७॥

उन विश्वस्त द्विजों से इस प्रकार आश्वासन और अभिनन्दन

पाकर, राजा ने अपने मन से अनिष्ट शंका का त्याग किया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ ४७ ॥

प्रीतश्च तेभ्यो द्विजसत्तमेभ्यः सत्कारपूर्वं प्रददौ धनानि ।
भूयादयं भूमिपतिर्यथोक्तो यायाज्जरामेत्य वनानि चेति ॥४८॥

और प्रसन्न होकर उसने उन श्रेष्ठ द्विजों को धन दिये, (जिससे) वह, उनके कथनानुसार राजा हो और बुढ़ापे में ही वन को जाय ॥ ४८ ॥

अथो निमित्तैश्च तपोबलाच्च तज्जन्म जन्मान्तकरस्य बुद्ध्वा ।
शाक्येश्वरस्यालयमाजगाम सद्धर्मतर्षादसितो महर्षिः ॥४९॥

तब निमित्तों से और तपोबल से जन्मान्तकर (जन्म-विनाशक) का वह जन्म जानकर महर्षि असित उत्तम धर्म की प्यास से शाक्य-अधिपति के घर आया ॥ ४९ ॥

तं ब्रह्मविद्ब्रह्मविदं ज्वलन्तं ब्राह्म्या श्रिया चैव तपःश्रिया च ।
राज्ञो गुरुर्गौरवसत्क्रियाभ्यां प्रवेशयामास नरेन्द्रसद्म ॥५०॥

ब्राह्म तेज और तपः-श्री से जलते हुए उस श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को राज-गुरु ने गौरव और सत्कार के साथ राजभवन में प्रवेश कराया ॥ ५० ॥

स पार्थिवान्तःपुरसंनिकर्षं कुमारजन्मागतहर्षवेगः ।
विवेश धीरो वनसंज्ञयेव तपःप्रकर्षाच्च जराश्रयाच्च ॥५१॥

कुमार के जन्म से आनन्दित होकर वह राजा के अन्तःपुर के समीप गया । अतिशय तपस्या तथा वृद्धावस्था के कारण वह वहाँ इतना धीर था कि अपने को वन में ही समझ रहा हो ॥ ५१ ॥

ततो नृपस्तं मुनिमासनस्थं पाद्यार्घ्यपूर्वं प्रतिपूज्य सम्यक् ।
निमन्त्रयामास यथोपचारं पुरा वसिष्ठं स इवान्तिदेवः ॥५२॥

तब मुनि के बैठने पर, पाद्य और अर्घ्य के साथ उसकी सम्यक् पूजा कर, राजा ने उससे वैसे ही सविनय निवेदन किया, जैसे प्राचीन समय में अन्तिदेव ने वसिष्ठ से ॥ ५२ ॥

धन्योऽस्म्यनुग्राह्यमिदं कुलं मे यन्मां दिदृक्षुर्भगवानुपेतः।
आज्ञाप्यतां किं करवाणि सौम्य शिष्योऽस्मि विश्रम्भितुमर्हसीति ५३

"मैं धन्य हूँ और मेरा यह कुल अनुगृहीत है जो आप मुझे देखने की इच्छा से आये हैं। हे सौम्य, आज्ञा कीजिए कि मैं क्या करूँ। आपका शिष्य हूँ, मेरे ऊपर विश्वास कीजिए" ॥ ५३ ॥

एवं नृपेणोपनिमन्त्रितः सन्सर्वेण भावेन मुनिर्यथावत्।
स विस्मयोत्फुल्लविशालदृष्टिर्गम्भीरधीराणि वचांस्युवाच ॥५४॥

जब राजा ने इस उचित रीति से समस्त सद्भाव के साथ मुनि से निवेदन किया, तब उसकी आँखें विस्मय से विकसित तथा विशाल हो गईं और उसने ये गम्भीर और धीर वचन कहे ॥ ५४ ॥

महात्मनि त्वय्युपपन्नमेतत्प्रियातिथौ त्यागिनि धर्मकामे।
सत्त्वान्वयज्ञानवयोऽनुरूपा स्निग्धा यदेवं मयि ते मतिः स्यात् ॥५५॥

"आप महात्मा, अतिथि प्रिय, त्यागी और धर्मार्थी के ही यह योग्य है कि अपने स्वभाव, वंश, ज्ञान और वयस के अनुरूप आपकी बुद्धि मेरे प्रति ऐसी स्नेहमयी हो ॥ ५५ ॥

एतच्च तद्येन नृपर्षयस्ते धर्मेण सूक्ष्मेण धनान्यवाप्य।
नित्यं त्यजन्तो विधिवद्बभूवुस्तपोभिराढ्या विभवैर्दरिद्राः ॥५६॥

और यह वही मार्ग है जिसके द्वारा वे राजर्षि सूक्ष्म धर्म से धन प्राप्त कर, नित्य विधिवत् दान करते हुए, तप के धनी और धन के दरिद्र हो गये ॥ ५६ ॥

प्रयोजनं यत्तु ममोपयाने तन्मे शृणु प्रीतिमुपेहि च त्वम्।
दिव्या मयादित्यपथे श्रुता वाग्बोधाय जातस्तनयस्तवेति ॥५७॥

किंतु मेरे आने का जो प्रयोजन है उसे आप सुनिये और आनन्द पाइये। सूर्य के मार्ग में मैंने (आपके प्रति कही गई) यह दिव्य-वाणी सुनी—"तुझे पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो बुद्धत्व प्राप्त करेगा" ॥ ५७ ॥

श्रुत्वा वचस्तच्च मनश्च युक्त्वा ज्ञात्वा निमित्तैश्च ततोऽस्म्युपेतः ।
दिदृक्षया शाक्यकुलध्वजस्य शक्रध्वजस्येव समुच्छ्रितस्य ॥५८॥

यह वचन सुनकर, मैंने मनोयोग किया और निमित्तों से बात जान ली। तब इन्द्र की पताका के समान शाक्य कुल की उन्नत पताका को देखने की इच्छा से यहाँ आया हूँ ॥ ५८ ॥

इत्येतदेवं वचनं निशम्य प्रहर्षसंभ्रान्तगतिर्नरेन्द्रः ।
आदाय धात्र्यङ्कगतं कुमारं संदर्शयामास तपोधनाय ॥५९॥

इस प्रकार यह वचन सुनकर, हर्ष के कारण शीघ्रता से राजा ने धाई की गोद से कुमार को लेकर तपस्वी को दिखाया ॥ ५९ ॥

चक्राङ्कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम् ।
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श ॥६०॥

तब उस महर्षि ने राजा के पुत्र को विस्मय के साथ देखा, उसके पाँवों में चक्र के चिह्न थे, अँगुलियाँ और हाथ-पाँव (रेखा-) जालों से भरे थे, भौंहें (घने) बालों से युक्त थीं, मूत्राशय और (अण्ड-) कोश वैसे ही (भीतर धँसे) थे जैसे हाथी के ॥ ६० ॥

धात्र्यङ्कसंविष्टमवेक्ष्य चैनं देव्यङ्कसंविष्टमिवाग्निसूनुम् ।
बभूव पक्ष्मान्तविचञ्चिताश्रुर्निश्वस्य चैव त्रिदिवोन्मुखोऽभूत् ॥६१॥

देवी की गोद में सोये हुए अग्नि-पुत्र की भाँति धाई की गोद में सोये हुए इस बालक को देखकर महर्षि की पपनियों पर आँसू आ गये और साँसें लेकर उसने आकाश की ओर मुख उठाया ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वासितं त्वश्रुपरिप्लुताक्षं स्नेहात्तनूजस्य नृपश्चकम्पे ।
सगद्गदं बाष्पकषायकण्ठः पप्रच्छ स प्राञ्जलिरानताङ्गः ॥६२॥

असित की आँखें आँसू से डबडबाई देखकर पुत्र के स्नेह से राजा काँप उठा, उसका कण्ठ बाष्प (के अवरोध) से दुखने लगा और झुककर हाथ जोड़े हुए, उसने भग्न वाणी में पूछा:—॥ ६२ ॥

अल्पान्तरं यस्य वपुः सुरेभ्यो बह्वद्भुतं यस्य च जन्म दीप्तम्।
यस्योत्तमं भाविनमात्थ चार्थं तं प्रेक्ष्य कस्मात्तव धीर बाष्पः ॥६३॥

"जिसके शरीर में देवताओं (के शरीर) से अल्प अन्तर है, जिसका उज्ज्वल जन्म बहुत अद्‌भुत है, जिसका भविष्य आप उत्तम कहते हैं, हे धीर, उसे देखकर आपको आँसू क्यों ? ॥ ६३ ॥

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कच्चिन्न शोकाय मम प्रसूतः।
लब्धा कथंचित्सलिलाञ्जलिर्मे न खल्विमं पातुमुपैति कालः ॥६४॥

हे भगवन्, कुमार चिरायु तो है ? वह मेरे शोक के लिए तो नहीं जनमा है ? किसी किसी तरह मुझे जो जलाञ्जलि प्राप्त होनेवाली है उसे पीने के लिए काल तो नहीं आ रहा है (अर्थात् मेरे मरने पर मुझे जलाञ्जलि देने के लिए कुमार जीवित तो रहेगा) ? ॥ ६४ ॥

अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कच्चिद्ध्रुवो मे कुलहस्तसारः।
अपि प्रयास्यामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि पुत्रेऽनिमिषैकचक्षुः ॥६५॥

मेरा यश-निधान अक्षय तो है ? मेरे वंश (-ज) के हाथ में राज्य ध्रुव तो है ? सोये रहने पर भी पुत्र के प्रति एक आँख खुली रखनेवाला मैं सुखपूर्वक परलोक तो जाऊँगा ? ॥ ६५ ॥

कच्चिन्न मे जातमफुल्लमेव
कुलप्रवालं परिशोषभागि।
क्षिप्रं विभो ब्रूहि न मेऽस्ति शान्तिः
स्नेहं सुते वेत्सि हि बान्धवानाम् ॥६६॥

क्या मेरा यह वंशाङ्कुर, जो अभी जनमा है, बिना फूले ही सूखने को है ? हे विभु, शीघ्र कहिये, मुझे शान्ति नहीं है; क्योंकि पुत्र के लिए पिता का स्नेह तो आप जानते ही हैं।" ॥ ६६ ॥

इत्यागतावेगमनिष्टबुद्धया बुद्ध्वा नरेन्द्रं स मुनिर्बभाषे।
मा भून्मतिस्ते नृप काचिदन्या निःसंशयं तद्यदवोचमस्मि ॥६७॥

अनिष्ट की आशंका से राजा आवेश में आ गया है, ऐसा समझ कर

मुनि ने कहा—"आप कुछ और न समझें। मैंने जो कहा है उसमें संशय नहीं है।" ॥ ६७ ॥

नास्यान्यथात्वं प्रति विक्रिया मे स्वां वञ्चनां तु प्रति विक्लवोऽस्मि।
कालो हि मे यातुमयं च जातो जातिक्षयस्यासुलभस्य बोद्धा ॥६८॥

इसके अनिष्ट से मुझे विकार नहीं हुआ है; मैं वञ्चित हो रहा हूँ, इसीलिए मैं विकल हूँ। मेरे जाने का यह समय आ गया है, जब कि यह उत्पन्न हुआ है जो जन्म-विनाश के दुर्लभ उपायों को जानेगा ॥ ६८ ॥

विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थस्तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम्।
जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥६९॥

विषयों से विरक्त हो, राज्य छोड़, तीव्र प्रयत्नों से तत्त्व को प्राप्त कर, यह *ज्ञानमय सूर्य जगत् में मोहरूप तम को नष्ट करने के लिए* प्रज्वलित होगा ॥ ६९ ॥

दुःखार्णवाद्व्याधिविकीर्णफेनाज्जरातरङ्गान्मरणोग्रवेगात्।
उत्तारयिष्यत्ययमुह्यमानमार्तं जगज्ज्ञानमहाप्लवेन ॥७०॥

दुःखरूप सागर से—व्याधि ही जिसका फैला हुआ फेन है, वृद्धावस्था ही जिसकी तरंग है और मरण ही जिसका प्रचण्ड वेग है—बहते हुए आर्त जगत् को यह ज्ञानरूप महानौका के द्वारा उबारेगा ॥ ७० ॥

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम्।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः ॥७१॥

प्रज्ञा ही जिसका जल-प्रवाह है, स्थिर शील ही जिसके तट हैं, समाधि ही जिसकी शीतलता है और व्रत ही जिसके चक्रवाक हैं, उस उत्तम धर्म-नदी का वह प्रवर्तन करेगा और तृष्णा से पीड़ित प्राणि-जगत् (=जीवलोक) उस (के जल) को पीयेगा ॥ ७१ ॥

दुःखार्दितेभ्यो विषयावृतेभ्यः संसारकान्तारपथस्थितेभ्यः।
आख्यास्यति ह्येष विमोक्षमार्गं मार्गप्रनष्टेभ्य इवाध्वगेभ्यः ॥७२॥

मार्ग से भटके हुए यात्रियों के समान संसाररूप वन के पथ में पड़े

हुए लोगों को, जो दुःख से पीड़ित और विषयों से लिप्त हैं, यह मोक्ष-मार्ग बतावेगा ॥ ७२ ॥

विदह्यमानाय जनाय लोके रागाग्निनायं विषयेन्धनेन ।
प्रह्लादमाधास्यति धर्मवृष्ट्या वृष्ट्या महामेघ इवातपान्ते ॥७३॥

संसार में विषयरूप इन्धनवाली रागाग्नि से जलते हुए लोगों को यह धर्म वृष्टि से वैसे ही आनन्दित करेगा, जैसे आतप (गर्मी) के अंत में (जल-) वृष्टि से महामेघ ॥ ७३ ॥

तृष्णार्गलं मोहतमःकपाटं द्वारं प्रजानामपयानहेतोः ।
विपाटयिष्यत्ययमुत्तमेन सद्धर्मताडेन दुरासदेन ॥७४॥

प्रजाओं के निकलने के लिए यह उस द्वार को, तृष्णा ही जिसका अर्गल है और मोहरूप अन्धकार ही जिसके किवाड़ हैं, सद्धर्म के अप्रतिहत उत्तम प्रहार से तोड़ डालेगा ॥ ७४ ॥

स्वैर्मोहपाशैः परिवेष्टितस्य दुःखाभिभूतस्य निराश्रयस्य ।
लोकस्य संबुध्य च धर्मराजः करिष्यते बन्धनमोक्षमेषः ॥७५॥

बुद्धत्व प्राप्त कर, यह धर्मराज अपने ही मोह-पाशों से परिवेष्टित, दुःख से अभिभूत, और निराश्रय जगत् का बन्धन खोलेगा ॥ ७५ ॥

तन्मा कृथाः शोकमिमं प्रति त्वमस्मिन्स शोच्योऽस्ति मनुष्यलोके ।
मोहेन वा कामसुखैर्मदाद्वा यो नैष्ठिकं श्रोष्यति नास्य धर्मम् ॥७६॥

अतः आप इसके लिए शोक न करें; इस मनुष्य लोक में उसके लिए शोक करना चाहिए जो काम सुख से होनेवाले मोह से, या मद से इसका नैष्ठिक धर्म नहीं सुनेगा ॥ ७६ ॥

भ्रष्टस्य तस्माच्च गुणादतो मे ध्यानानि लब्ध्वाप्यकृतार्थतैव ।
धर्मस्य तस्याश्रवणादहं हि मन्ये विपत्तिं त्रिदिवेऽपि वासम् ॥७७॥

इस गुण (या गुण-सागर) से भ्रष्ट होकर ध्यान प्राप्त करने पर भी मैं अकृतार्थ ही हूँ; क्योंकि उसका धर्म नहीं सुनने के कारण स्वर्ग-निवास को भी मैं विपत्ति ही मानता हूँ ॥ ७७ ॥

इति श्रुतार्थः ससुहृत्सदारस्त्यक्त्वा विषादं मुमुदे नरेन्द्रः ।
एवंविधोऽयं तनयो ममेति मेने स हि स्वामपि सारवत्ताम् ॥७८॥

यह व्याख्या सुनने पर स्त्री और बन्धुओं के साथ विषाद छोड़कर राजा प्रमुदित हुआ । "मेरा पुत्र ऐसा है" इससे उसने अपना सौभाग्य समझा ॥ ७८ ॥

आर्षेण मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदयं चकार ।
न खल्वसौ न प्रियधर्मपक्षः संताननाशात्तु भयं ददर्श ॥७९॥

"ऋषि के मार्ग पर यह चलेगा" इससे उसका हृदय चिन्तित हुआ। निश्चय ही वह ऐसा नहीं था कि उसे धर्म का पक्ष प्रिय नहीं; किंतु वंश-नाश से होनेवाला भय उसने देखा ॥ ७९ ॥

अथ मुनिरसितो निवेद्य तत्त्वं सुतनियतं सुतविक्लवाय राज्ञे ।
सबहुमतमुदीक्ष्यमाणरूपः पवनपथेन यथागतं जगाम ॥८०॥

तब पुत्र के लिए विकल राजा से पुत्र के सम्बन्ध में तत्त्व को निवेदन कर, असित मुनि वायु-मार्ग से वैसे ही चला गया जैसे आया था और लोग उसका रूप देखते रहे ॥ ८० ॥

कृतमितिरनुजासुतं च दृष्ट्वा मुनिवचनश्रवणे च तन्मतौ च ।
बहुविधमनुकम्पया स साधुः प्रियसुतवद्विनियोजयांचकार ॥८१॥

सच्चा ज्ञान प्राप्त किये हुए उस मुनि (असित) ने अपनी बहिन के पुत्र को देखा और अनुकम्पा-वश प्रिय पुत्र के समान उसे मुनि (बुद्ध) का वचन सुनने के लिए तथा उसके विचारानुसार चलने के लिए नियुक्त किया ॥ ८१ ॥

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्टो विषयगतानि विमुच्य बन्धनानि ।
कुलसदृशमचीकरद्यथावत्प्रियतनयस्तनयस्य जातकर्म ॥८२॥

पुत्र-जन्म से संतुष्ट होकर राजा ने भी देश के सभी बन्धनों (=कैदियों) को छोड़ दिया और उस पुत्र-स्नेही ने पुत्र का जात-कर्म कुल के अनुकूल ही उचित रीति से कराया ॥ ८२ ॥

दशसु परिणतेष्वहःसु चैव प्रयतमनाः परया मुदा परीतः ।
अकुरुत जपहोममङ्गलाद्याः परमभवाय सुतस्य देवतेज्याः ॥८३॥

दस दिन पूरे होने पर परम प्रसन्न होकर, उस संयमी ने पुत्र के परम कल्याण के लिए जप, होम और मंगल-कर्म आदि के साथ देव-यज्ञ किये ॥ ८३ ॥

अपि च शतसहस्रपूर्णसंख्याः स्थिरबलवत्तनयाः सहेमशृङ्गीः ।
अनुपगतजराः पयस्विनीर्गाः स्वयमददात्सुतवृद्धये द्विजेभ्यः ॥८४॥

और भी, एक लाख पयस्विनी गाएँ जो वृद्धा नहीं हुई थीं, जिनके सींग सोने से मढ़े थे, और जिनके बछड़े दृढ़ बलवान् थे, पुत्र की बढ़ती के लिए स्वयं द्विजों को दीं ॥ ८४ ॥

बहुविधविषयास्ततो यतात्मा स्वहृदयतोषकरीः क्रिया विधाय ।
गुणवति नियते शिवे मुहूर्ते मतिमकरोन्मुदितः पुरप्रवेशे ॥८५॥

उस संयतात्मा ने अपने हृदय को संतोष देनेवाली भाँति भाँति की क्रियाएँ कीं और गुण-युक्त मंगल मुहूर्त नियत होने पर, प्रसन्न होकर उसने नगर में प्रवेश करने का विचार किया ॥ ८५ ॥

द्विरदरदमयीमथो महार्हां सितसितपुष्पभृतां मणिप्रदीपाम् ।
अभजत शिविकां शिवाय देवी तनयवती प्रणिपत्य देवताभ्यः ॥८६॥

उस पुत्रवती देवी ने मंगल के लिए देवताओं को प्रणाम किया और वह हाथी-दाँत की बनी बहुमूल्य पालकी पर, जो उजले-उजले फूलों से भरी थी और जिसमें मणि-प्रदीप जल रहे थे, चढ़ी ॥ ८६ ॥

पुरमथ पुरतः प्रवेश्य पत्नीं स्थविरजनानुगतामपत्यनाथाम् ।
नृपतिरपि जगाम पौरसंघैर्दिवममरैर्मघवानिवार्च्यमानः ॥८७॥

वृद्धाओं और पुत्र के साथ पत्नी को आगे से पुर में प्रवेश कराकर, राजा भी वहाँ गया । पुरवासियों ने उसकी उसी तरह पूजा की, जैसे स्वर्ग में (प्रवेश करने पर) इन्द्र की देवताओं ने ॥ ८७ ॥

भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो भव इव षण्मुखजन्मना प्रतीतः ।
इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशस्करं व्यधत्त ॥८८॥

महल में प्रवेश करने पर, शाक्य-राज वैसे ही आनन्दित हुआ, जैसे कार्तिकेय के जन्म से शिव। प्रसन्नमुख होकर "यह करो, यह करो" कहते हुए राजा ने वह सब कराये, जिनसे तरह तरह की बढ़ती और यश होता है ॥ ८८ ॥

इति नरपतिपुत्रजन्मवृद्ध्या सजनपदं कपिलाह्वयं पुरं तत् ।
धनदपुरमिवाप्सरोऽवकीर्णं मुदितमभून्नलकूबरप्रसूतौ ॥८९॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये भगवत्प्रसूतिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

राज-कुमार के समृद्धिकारी जन्म से कपिल के नाम का वह नगर जनपद के साथ इस प्रकार प्रमुदित हुआ, जैसे नलकूबर के जन्म में अप्सराओं से भरा कुबेर का नगर ॥ ८९ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "भगवान् का जन्म" नामक
पहला सर्ग समाप्त ।

दूसरा सर्ग

अन्तःपुर–विहार

आ जन्मनो जन्मजरान्तकस्य तस्यात्मजस्यात्मजितः स राजा।
अहन्यहन्यर्थगजाश्वमित्रैर्वृद्धिं ययौ सिन्धुरिवाम्बुवेगैः ॥ १ ॥

जन्म और जरा के विनाशक उस आत्म-विजयी पुत्र के जन्म-(– समय) से वह राजा दिन दिन धन से, हाथी-घोड़ों से, और मित्रों से उसी तरह बढ़ने लगा, जैसे जल-प्रवाहों से नदी ॥ १ ॥

धनस्य रत्नस्य च तस्य तस्य कृताकृतस्यैव च काञ्चनस्य।
तदा हि नैकान्स निधीनवाप मनोरथस्याप्यतिभारभूतान् ॥ २ ॥

क्योंकि तब धन, विविध रत्न, तथा बने और नहीं बने सोने की अनेक निधियाँ उसने पाईं, जो मनोरथ के लिए भी भार-स्वरूप थीं ॥२॥

ये पद्मकल्पैरपि च द्विपेन्द्रैर्न मण्डलं शक्यमिहाभिनेतुम्।
मदोत्कटा हैमवता गजास्ते विनापि यत्नादुपतस्थुरेनम् ॥ ३ ॥

हिमालय के मतवाले हाथी, जो पद्म-सदृश गजेन्द्रों द्वारा भी यहाँ नहीं लाये जा सकते थे, अनायास ही उसकी सेवा में उपस्थित हुए ॥३॥

नानाङ्कचिह्नैर्नवहेमभाण्डैर्विभूषितैर्लम्बसटैस्तथान्यैः।
संचुक्षुभे चास्य पुरं तुरङ्गैर्बलेन मैत्र्या च धनेन चाप्तैः ॥ ४ ॥

और, नाना चिह्नों नव-सुवर्ण-भाण्डो और भूषणों से युक्त तथा लम्बे केसरवाले घोड़ों से, जो (सैन्य –) बल, मित्रता एवं धन द्वारा प्राप्त हुए थे, उसका नगर क्षुब्ध हुआ ॥ ४ ॥

---

४ भाण्ड = अश्व-आभरण, घोड़े का अलंकार।

पुष्टाश्च तुष्टाश्च तदास्य राज्ये साध्व्योऽरजस्का गुणवत्पयस्काः ।
उदग्रवत्सैः सहिता बभूवुर्बह्वयो बहुक्षीरदुहश्च गावः ॥ ५ ॥

उसके राज्य में गाएँ बहुत थीं। वे पुष्ट व सन्तुष्ट, साध्वी और निर्मल, उत्तम तथा बहुत दूध देनेवाली और उन्नत बछड़ों से युक्त थीं ॥५॥

मध्यस्थतां तस्य रिपुर्जगाम मध्यस्थभावः प्रययौ सुहृत्त्वम् ।
विशेषतो दार्ढ्यमियाय मित्रं द्वावस्य पक्षावपरस्तु नास ॥ ६ ॥

उसका शत्रु मध्यस्थ (=निष्पक्ष), मध्यस्थ मित्र, और मित्र विशेषतः दृढ़ हो गया। उसके दो ही पक्ष रहे, तीसरा पक्ष (शत्रु) नहीं रहा ॥ ६ ॥

तथास्य मन्दानिलमेघशब्दः सौदामिनीकुण्डलमण्डिताभ्रः ।
विनाश्मवर्षाशनिपातदोषैः काले च देशे प्रववर्ष देवः ॥ ७ ॥

और उसके लिए (वृष्टि-) देव ने, जिसके बादल विद्युन्मण्डल से मण्डित थे, मन्द अनिल और मेघ-गर्जन के साथ, अश्म-वर्षा और वज्र-पात के दोषों के विना ही (उचित) समय और स्थान पर वृष्टि की ॥७॥

रुरोह सस्यं फलवद्यथर्तु तदाकृतेनापि कृषिश्रमेण ।
ता एव चास्यौषधयो रसेन सारेण चैवाभ्यधिका बभूवुः ॥ ८ ॥

(अति) कृषि-श्रम किये विना ही फल-युक्त सस्य उचित ऋतु में बढ़ा। और उसके लिये वे ही ओषधियाँ रस एवं सार से खूब भर गईं ॥८॥

शरीरसंदेहकरेऽपि काले संग्रामसंमर्द इव प्रवृत्ते ।
स्वस्थाः सुखं चैव निरामयं च प्रजज्ञिरे कालवशेन नार्यः ॥ ९ ॥

यद्यपि (प्रसव -) काल शरीर के लिए उतना ही संदेह-जनक है जितना कि युद्ध-संघर्ष, तथापि स्त्रियों ने स्वस्थ रहते हुए, सुखपूर्वक और विना किसी रोग के समय पर प्रसव किया ॥ ९ ॥

पृथग्व्रतिभ्यो विभवेऽपि गर्ह्ये न प्रार्थयन्ति स्म नराः परेभ्यः ।
अभ्यर्थितः सूक्ष्मधनोऽपि चार्यस्तदा न कश्चिद्विमुखो बभूव ॥१०॥

व्रतियों को छोड़कर (अन्य) लोगों ने, चाहे उनका विभव कितना ही तुच्छ क्यों न हो, दूसरों से कुछ नहीं मांगा। और उसी समय कोई भी आर्य, चाहे उसका धन कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, मांगे जाने पर विमुख नहीं हुआ ॥ १० ॥

नागौरवो बन्धुषु नाप्यदाता नैवाव्रतो नानृतिको न हिंस्रः ।
आसीत्तदा कश्चन तस्य राज्ये राज्ञो ययातेरिव नाहुषस्य ॥११॥

उस समय उसके राज्य में, जैसे नहुष के पुत्र ययाति के राज्य में, बन्धुओं का असम्मान करनेवाला, अदाता, अव्रती, झूठा, और हिंसक कोई नहीं था ॥ ११ ॥

उद्यानदेवायतनाश्रमाणां कूपप्रपापुष्करिणीवनानाम् ।
चक्रुः क्रियास्तत्र च धर्मकामाः प्रत्यक्षतः स्वर्गमिवोपलभ्य ॥१२॥

धर्म के अभिलाषियों ने स्वर्ग का मानो प्रत्यक्ष दर्शन कर उद्यान, देव-मन्दिर, आश्रम, कूप, पनसाले, पोखर और उपवन बनाये ॥ १२ ॥

मुक्तश्च दुर्भिक्षभयामयेभ्यो हृष्टो जनः स्वर्ग इवाभिरेमे ।
पत्नीं पतिर्वा महिषी पतिं वा परस्परं न व्यभिचेरतुश्च ॥१३॥

दुर्भिक्ष भय और रोग से मुक्ति होने के हर्ष में लोग ऐसे सुखी थे, जैसे स्वर्ग में। पति ने पत्नी के विरुद्ध या पत्नी ने पति के विरुद्ध सदाचार भङ्ग नहीं किया अर्थात् दोनों एक दूसरे के प्रति सच्चे रहे ॥ १३ ॥

कश्चित्सिषेवे रतये न कामं कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित् ।
कश्चिद्धनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चिन्न चकार हिंसाम् ॥१४॥

किसी ने रति के लिए काम का सेवन नहीं किया, किसी ने काम (- सेवन) के लिए धन की रक्षा नहीं की, किसी ने धन के लिए धर्माचरण नहीं किया, किसी ने धर्म के लिए हिंसा नहीं की ॥ १४ ॥

---

१० — व्रती=संन्यास-धर्म के नियम पालन करनेवाले ।

११—अव्रती=धर्म के नियम नहीं पालन करनेवाला ।

स्तेयादिभिश्चाप्यरिभिश्च नष्टं स्वस्थं स्वचक्रं परचक्रमुक्तम्।
क्षेमं सुभिक्षं च बभूव तस्य पुरानरण्यस्य यथैव राष्ट्रम् ॥१५॥

शत्रुता और चोरी–आदि नष्ट हो गई। उसका राज्य स्वस्थ, स्वतन्त्र, विदेश के शासन से मुक्त, सुखी और अन्न से भरा था, जैसे प्राचीन काल में अनरण्य का राज्य ॥ १५ ॥

तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये।
चचार हर्षः प्रणनाश पाप्मा जज्वाल धर्मः कलुषः शशाम ॥१६॥

तब उसके जन्म में उस राजा के राज्य में, जैसे सूर्य-पुत्र मनु के राज्य में, मलिनता मिटी और हर्ष का सञ्चार हुआ, पाप नष्ट हुआ और धर्म प्रज्वलित हुआ ॥ १६ ॥

एवंविधा राजकुलस्य संपत्सर्वार्थसिद्धिश्च यतो बभूव।
ततो नृपस्तस्य सुतस्य नाम सर्वार्थसिद्धोऽयमिति प्रचक्रे ॥१७॥

राजकुल की ऐसी सम्पद् और सब अर्थों की सिद्धि हुई, इसीलिए राजा ने अपने पुत्र का नाम रखते हुए कहा–"यह सर्वार्थ सिद्ध है"॥१७॥

देवी तु माया विबुधर्षिकल्पं दृष्ट्वा विशालं तनयप्रभावम्।
जातं प्रहर्षं न शशाक सोढुं ततो निवासाय दिवं जगाम ॥१८॥

अपने पुत्र का प्रभाव देवर्षि का सा विशाल देखकर, देवी माया (हृदय में) उत्पन्न हर्ष को न सह सकी और रहने के लिए स्वर्ग चली गई ॥ १८ ॥

ततः कुमारं सुरगर्भकल्पं स्नेहेन भावेन च निर्विशेषम्।
मातृष्वसा मातृसमप्रभावा संवर्धयामात्मजवद्बभूव ॥१९॥

तब माता के समान प्रभाववाली मौसी ने सुर-सन्तान-तुल्य कुमार को वैसे ही भाव और स्नेह से अपने पुत्र के समान पाला ॥ १९ ॥

ततः स बालार्क इवोदयस्थः समीरितो वह्निरिवानिलेन।
क्रमेण सम्यग्ववृधे कुमारस्ताराधिपः पक्ष इवातमस्के ॥२०॥

तब उदयाचल पर स्थित सूर्य के समान, हवा से प्रेरित अग्नि के

समान और शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान कुमार धीरे-धीरे अच्छी तरह बढ़ने लगा ॥ २० ॥

ततो महार्हाणि च चन्दनानि रत्नावलीश्चौषधिभिः सगर्भाः ।
मृगप्रयुक्तान् रथकांश्च हैमानाचक्रिरेऽस्मै सुहृदालयेभ्यः ॥२१॥
वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च ।
रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्यचित्राः ॥२२॥

तब उसके लिए लोग बहुमूल्य चन्दन, ओषधियों से भरे रत्न-हार, मृग-युक्त छोटे-छोटे सुवर्ण-रथ, वयस के अनुरूप भूषण, सोने के बने छोटे-छोटे हाथी, मृग और घोड़े, गो-वत्स-युक्त रथ, तथा चाँदी-सोने से रंग-बिरंगी पुतलियाँ मित्रों के घरों से ले आये ॥ २१, २२ ॥

एवं स तैस्तैर्विषयोपचारैर्वयोऽनुरूपैरुपचर्यमाणः ।
बालोऽप्यबालप्रतिमो बभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च ॥२३॥

वयस के अनुरूप उन-उन विषयों से इस प्रकार सेवित होता हुआ वह बालक होने पर भी धैर्य, पवित्रता, बुद्धि और विभूति में बालक नहीं था ॥ २३ ॥

वयश्च कौमारमतीत्य सम्यक् संप्राप्य काले प्रतिपत्तिकर्म ।
अल्पैरहोभिर्बहुवर्षगम्या जग्राह विद्याः स्वकुलानुरूपाः ॥२४॥

कुमारावस्था बीतने पर, समय पर उसका (उपनयन-) संस्कार विधिवत् हुआ और अपने कुल के अनुरूप विद्याएँ, जो बहुत वर्षों में सीखी जाती हैं, उसने कुछ ही दिनों में सीख लीं ॥ २४ ॥

नैःश्रेयसं तस्य तु भव्यमर्थं श्रुत्वा पुरस्तादसितान्महर्षेः ।
कामेषु सङ्गं जनयांबभूव वनानि यायादिति शाक्यराजः ॥२५॥

शाक्य-राज ने महर्षि असित से पहले ही उसका परम कल्याण-प्रद भविष्य सुना था; इसलिए उसने विषयों में उसकी आसक्ति उत्पन्न की, जिससे वह वन को न जाय ॥ २५ ॥

कुलात्ततोऽस्मै स्थिरशीलयुक्तात्साध्वीं वपुर्ह्रीविनयोपपन्नाम् ।
यशोधरां नाम यशोविशालां वामाभिधानां श्रियमाजुहाव ॥२६॥

तब स्थायी शीलवाले कुल से यशोधरा नामक कन्यारूपी लक्ष्मी को उसके लिए बुलाया। उसका यश विशाल था। वह साध्वी थी। सुन्दर आकृति, लज्जा और विनय से युक्त थी ॥ २६ ॥

विद्योतमानो वपुषा परेण सनत्कुमारप्रतिमः कुमारः ।
सार्धं तया शाक्यनरेन्द्रवध्वा शच्या सहस्राक्ष इवाभिरेमे ॥२७॥

सनत्कुमार के समान अत्यन्त सुन्दर आकृति से चमकते कुमार ने शाक्यराज की उस वधू के साथ वैसे ही रमण किया, जैसे इन्द्र शची के साथ ॥ २७ ॥

किंचिन्मनःक्षोभकरं प्रतीपं कथं न पश्येदिति सोऽनुचिन्त्य ।
वासं नृपो व्यादिशति स्म तस्मै हर्म्योदरेष्वेव न भूप्रचारम् ॥२८॥

मन को क्षुब्ध करनेवाला कुछ भी प्रतिकूल वह (कुमार) कैसे न देखे—ऐसा सोचकर राजा ने उसके लिए महलों के भीतर रहने का आदेश दिया, पृथ्वी पर घूमने का नहीं ॥ २८ ॥

ततः शरत्तोयदपाण्डरेषु भूमौ विमानेष्विव रञ्जितेषु ।
हर्म्येषु सर्वर्तुसुखाश्रयेषु स्त्रीणामुदारैर्विजहार तूर्यैः ॥२९॥

तब शरत्काल के मेघ के समान श्वेत तथा पृथ्वी पर उतरे विमानों (= देव-प्रासादों) के समान रञ्जित महलों में, जो सब ऋतुओं में सुखदायी थे, उसने स्त्रियों के उदार तूर्य-वाद्यों से मनोविनोद किया ॥ २९ ॥

कलैर्हि चामीकरबद्धकक्षैर्नारीकराग्राभिहतैर्मृदङ्गैः ।
वराप्सरोनृत्यसमैश्च नृत्यैः कैलासवत्तद्भवनं रराज ॥३०॥

जिनके अञ्चल सुवर्ण से बँधे थे और जो स्त्रियों की अँगुलियों से बजाये जा रहे थे उन मृदंगों से, (उनकी) मधुर ध्वनि से और उत्तम अप्सराओं के नृत्य के समान नृत्य से, वह भवन कैलास के समान शोभित हुआ ॥ ३० ॥

वाग्भिः कलाभिर्ललितैश्च हावैर्मदैः सखेलैर्मधुरैश्च हासैः ।
तं तत्र नार्यो रमयांबभूवुर्भ्रूवञ्चितैरर्धनिरीक्षितैश्च ॥३१॥

मीठी बोली से, ललित हाव-भाव से, क्रीड़ापूर्ण मद (=मत्तता) से, मधुर हास से, भ्रू-भङ्गों से और कटाक्षों से, नारियों ने उसे वहाँ आनन्दित किया ॥ ३१ ॥

ततः स कामाश्रयपण्डिताभिः स्त्रीभिर्गृहीतो रतिकर्कशाभिः ।
विमानपृष्ठान्न महीं जगाम विमानपृष्ठादिव पुण्यकर्मा ॥३२॥

तब काम को आश्रय देने में पण्डित तथा रति में दृढ़ स्त्रियों से गृहीत होकर, वह महल पर से भूतल पर नहीं आया, जैसे पुण्य कर्मवाला (व्यक्ति) स्वर्ग से (नीचे नहीं उतरता है) ।

नृपस्तु तस्यैव विवृद्धिहेतोस्तद्भाविनार्थेन च चोद्यमानः ।
शमेऽभिरेमे विरराम पापाद्भेजे दमं संविबभाज साधून् ॥३३॥

पुत्र की बढ़ती के लिए और उसके (उत्तम) भविष्य से प्रेरित होता हुआ राजा शम में आनन्दित हुआ और पाप से विरत हुआ, (इन्द्रिय -) दमन का आश्रय लिया और साधुओं के बीच धन बाँटा ॥ ३३ ॥

नाधीरवत्कामसुखे ससञ्जे न संररञ्जे विषमं जनन्याम् ।
धृत्येन्द्रियाश्वांश्चपलान्विजिग्ये बन्धूंश्च पौरांश्च गुणैर्जिगाय ॥३४॥

वह अधीर व्यक्ति के समान काम-सुख से आसक्त नहीं हुआ, उसने मातृ-वर्ग (स्त्रियों) से अनुचित अनुराग नहीं किया (या स्त्रियों के प्रति अत्यधिक क्रोध नहीं किया), धैर्यपूर्वक इन्द्रियरूप चपल घोड़ों का दमन किया और अपने गुणों से बन्धुओं एवं पुर-वासियों को जीता ॥३४॥

नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट ।
स्वाभ्यः प्रजाभ्यो हि यथा तथैव सर्वप्रजाभ्यः शिवमाशशंसे ॥३५॥

उसने दूसरे के दुःख के लिए (तंत्र-मंत्र) विद्या नहीं सीखी, किंतु जो कल्याण-कारी ज्ञान है उसे अध्ययन किया; क्योंकि जैसे

अपनी प्रजाओं के लिए वैसे ही सब प्रजाओं के लिए उसने कल्याण-कामना की ॥ ३५ ॥

भं भासुरं चाङ्गिरसाधिदेवं यथावदानर्च तदायुषे सः ।
जुहाव हव्यान्यकृशे कृशानौ ददौ द्विजेभ्यः कृशनं च गाश्च ॥३६॥

उसकी आयु के लिए उसने उज्ज्वल ग्रह-मण्डल की, जिसका अधिदेव बृहस्पति है, यथोचित पूजा की, विशाल अग्नि में हवन किया तथा द्विजों को सोना और गाएँ दीं ॥ ३६ ॥

सस्नौ शरीरं पवितुं मनश्च तीर्थाम्बुभिश्चैव गुणाम्बुभिश्च ।
वेदोपदिष्टं सममात्मजं च सोमं पपौ शान्तिसुखं च हार्दम् ॥३७॥

शरीर को पवित्र करने के लिए तीर्थ के जल से और मन को पवित्र करने के लिए गुणरूप जल से स्नान किया, वेद विहित सोम (-रस) पिया और साथ ही अपने ही से उत्पन्न हार्दिक शान्ति-सुख की रक्षा की ॥ ३७ ॥

सान्त्वं बभाषे न च नार्थवद्यज्जजल्प तत्त्वं न च विप्रियं यत् ।
सान्त्वं ह्यतत्त्वं परुषं च तत्त्वं ह्रियाशकन्नात्मन एव वक्तुम् ॥३८॥

उसने प्रिय कहा और व्यर्थ नहीं; सत्य कहा और अप्रिय नहीं; क्योंकि प्रिय असत्य और कठोर सत्य वह लाज से अपने को भी न कह सका ॥ ३८ ॥

इष्टेष्वनिष्टेषु च कार्यवत्सु न रागदोषाश्रयतां प्रपेदे ।
शिवं सिषेवे व्यवहारशुद्धं यज्ञं हि मेने न तथा यथा तत् ॥३९॥

कार्यवालों के प्रति, वे इष्ट हों या अनिष्ट, उसने अनुराग या द्वेष

३७—"आत्मजं च" की जगह "आत्मजैन" पढ़ें, तो उत्तरार्ध का अर्थ यों होगा—"आत्मज के साथ वेद-विहित सोम (-रस) पिया और हार्दिक शान्ति-सुख की रक्षा की।"

नहीं किया; कल्याणकारी शुद्ध विवादनिर्णय का सेवन किया, यज्ञ को वैसा नहीं माना जैसा कि उसे अर्थात् न्याय की पवित्रता को ॥ ३९ ॥

आशावते चाभिगताय सद्यो देयाम्बुभिस्तर्षमचेछिदिष्ट ।
युद्धादृते वृत्तपरश्वधेन द्विड्दर्पमुद्वृत्तमबेभिदिष्ट ॥४०॥

आगत आशावान् व्यक्ति की प्यास को दानरूप जल से सद्यः काटा और युद्ध के विना ही सदाचाररूप कुठार से शत्रु के असंयत अभिमान को भेदा ॥ ४० ॥

एकं विनिन्ये स जुगोप सप्त सप्तैव तत्याज ररक्ष पञ्च ।
प्राप त्रिवर्गं बुबुधे त्रिवर्गं जज्ञे द्विवर्गं प्रजहौ द्विवर्गम् ॥४१॥

उसने एक (अपने) को विनीत किया, सात (= राज्य के सात अङ्गों) की रक्षा की, सात (=राजाओं के सात दोषों) का त्याग किया, पाँच (=पाँच उपायों) की रक्षा की, त्रिवर्ग (=अर्थ–धर्म–काम) को पाया, त्रिवर्ग (=शत्रु-मित्र-मध्यस्थ) को समझा, द्विवर्ग (=नीति-अनीति) को जाना, और द्विवर्ग (=काम-क्रोध) को छोड़ा ॥ ४१ ॥

कृतागसोऽपि प्रतिपाद्य वध्यान्नाजीघनन्नापि रुषा ददर्श ।
बबन्ध सान्त्वेन फलेन चैतांस्त्यागोऽपि तेषां ह्यनयाय दृष्टः ॥४२॥

अपराधियों को वध्य प्रतिपादित करके भी नहीं मरवाया, क्रोध से भी नहीं देखा। उन्हें प्रिय फल से युक्त किया (=हल्का दण्ड दिया); क्योंकि उन्हें छोड़ने में भी अनीति देखी।गई ॥ ४२ ॥

आर्षाण्यचारीत्परमव्रतानि वैराण्यहासीच्चिरसंभृतानि ।
यशांसि चापद्गुणगन्धवन्ति रजांस्यहार्षीन्मलिनीकराणि ॥४३॥

ऋषियों के कठोर व्रतों का आचरण किया, चिर-पोषित शत्रुता छोड़ी, अपने गुणों से सुगन्धित यश पाया, मलिन करनेवाली (काम की) धूल झाड़ी ॥ ४३ ॥

४१—पांच उपाय, देखिये–सौ० पन्द्रह ६१ ।

न चाजिहीर्षीद्वलिमप्रवृत्तं न चाचिकीर्षीत्परवस्त्वभिध्याम् ।
न चाविवक्षीद् द्विषतामधर्मं न चाविवक्षीद्धृदयेन मन्युम् ॥४४॥

उसने (प्रजाओं से) अपवृत्त (=अनुचित, अप्रस्तुत) कर लेने की इच्छा नहीं की, पर-वस्तु हरण करना नहीं चाहा शत्रुओं का अधर्म प्रगट नहीं करना चाहा और हृदय में क्रोध रखना नहीं चाहा ॥ ४४ ॥

तस्मिंस्तथा भूमिपतौ प्रवृत्ते भृत्याश्च पौराश्च तथैव चेरुः ।
शमात्मके चेतसि विप्रसन्ने प्रयुक्तयोगस्य यथेन्द्रियाणि ॥४५॥

उस राजा की प्रवृत्ति वैसी होने पर, भृत्यों और पुर-वासियों ने वैसा ही आचरण किया; जिस प्रकार योगारूढ़ व्यक्ति का चित्त शान्त और प्रसन्न (=निर्मल) होने पर, उसके इन्द्रिय भी (वैसे ही शान्त और निर्मल हो जाते हैं) ॥ ४५ ॥

काले ततश्चारुपयोधरायां यशोधरायां स्वयशोधरायाम् ।
शौद्धोदने राहुसपत्नवक्त्रो जज्ञे सुतो राहुल एव नाम्ना ॥४६॥

तब समय पर चारु पयोधरवाली तथा अपने (गर्भ में पुत्ररूप) यश को धारण करनेवाली यशोधरा से शौद्धोदनि (=शुद्धोदन के पुत्र) को राहु-शत्रु (चन्द्र) - सदृश मुखवाला पुत्र उत्पन्न हुआ, (उसका) नाम राहुल ही (रहा) ॥ ४६ ॥

अथेष्टपुत्रः परमप्रतीतः कुलस्य वृद्धिं प्रति भूमिपालः ।
यथैव पुत्रप्रसवे ननन्द तथैव पौत्रप्रसवे ननन्द ॥४७॥

तब अभिलषित पुत्रवाले राजा को वंश-वृद्धि-का पूरा विश्वास हुआ । जैसे वह पुत्र-जन्म में आनन्दित हुआ था, वैसे ही पौत्र-जन्म में आनन्दित हुआ ॥ ४७ ॥

पुत्रस्य मे पुत्रगतो ममेव स्नेहः कथं स्यादिति जातहर्षः ।
काले स तं तं विधिमाललम्बे पुत्रप्रियः स्वर्गमिवारुरुक्षन् ॥४८॥

"मेरे पुत्र को मेरे ही समान पुत्रगत स्नेह किस प्रकार होता होगा" यह सोचकर उसे हर्ष हुआ । उस पुत्र-प्रिय ने मानो स्वर्गारोहण की इच्छा

से समय पर उस उस (धार्मिक) विधि का अवलम्बन किया ॥ ४८ ॥

स्थित्वा पथि प्राथमकल्पिकानां राजर्षभाणां यशसान्वितानाम् ।
शुक्लान्यमुक्त्वापि तपांस्यतप्त यज्ञैश्च हिंसारहितैरयष्ट ॥४९॥

कृत-युग के यशस्वी नृप-श्रेष्ठों के पथ में रहते हुए, (गृहस्थाश्रमके) सफेद कपड़ों को नहीं छोड़ते हुए भी उसने तप किये और हिंसा-रहित यज्ञों से पूजा की ॥ ४९ ॥

अजाज्वलिष्टाथ स पुण्यकर्मा नृपश्रिया चैव तपःश्रिया च ।
कुलेन वृत्तेन धिया च दीप्तस्तेजः सहस्रांशुरिवोत्सिसृक्षुः ॥५०॥

वह पुण्यकर्मा राज्य और तपस्या की श्री से प्रज्वलित हुआ; (अपने श्रेष्ठ) कुल आचार और बुद्धि से प्रदीप्त हुआ, जैसे सहस्र किरणोंवाले सूर्य के समान प्रकाश फैलाने की इच्छा कर रहा हो ॥ ५० ॥

स्वायंभुवं चार्चिकमर्चयित्वा जजाप पुत्रस्थितये स्थितश्रीः ।
चकार कर्माणि च दुष्कराणि प्रजाः सिसृक्षुः क इवादिकाले ॥५१॥

उस स्थायी लक्ष्मीवाले (राजा) ने पुत्र के जीवन के लिए स्वयभू की पूजा की, जप किया और आदि युग में प्रजा सृजन करने को इच्छुक स्रष्टा के समान दुष्कर कर्म किये ॥ ५१ ॥

तत्याज शस्त्रं विममर्श शास्त्रं शमं सिषेवे नियमं विषेहे ।
वशीव कञ्चिद्विषयं न भेजे पितेव सर्वान्विषयान्ददर्श ॥५२॥

शस्त्र छोड़ा, शास्त्र विचारा, शम का सेवन किया, नियम को सहन किया, संयमी के समान किसी विषय का सेवन नहीं किया, पिता के समान सब विषयों (=देशों) को देखा ॥ ५२ ॥

बभार राज्यं स हि पुत्रहेतोः पुत्रं कुलार्थं यशसे कुलं तु ।
स्वर्गाय शब्दं दिवमात्महेतोर्धर्मार्थमात्मस्थितिमाचकाङ्क्ष ॥५३॥

उसने राज्य का पुत्र के लिए, पुत्र का कुल के लिए, कुल का यश के लिए पालन किया और यश की स्वर्ग के लिए, स्वर्ग की अपने लिए, अपने जीवन की धर्म के लिए आकाङ्क्षा की ॥ ५३ ॥

एवं स धर्मं विविधं चकार सद्भिर्निपातं श्रुतितश्च सिद्धम् ।
दृष्ट्वा कथं पुत्रमुखं सुतो मे वनं न यायादिति नाथमानः ॥५४॥

इस प्रकार उसने भाँति भाँति का धर्म किया, सज्जन जिसका पालन करते हैं और जो श्रुति से सिद्ध है, यह प्रार्थना करते हुए कि "अपने पुत्र का मुख देखकर मेरा पुत्र किसी प्रकार वन को न जाय" ॥ ५४ ॥

रिरक्षिषन्तः श्रियमात्मसंस्थां रक्षन्ति पुत्रान् भुवि भूमिपालाः ।
पुत्रं नरेन्द्रः स तु धर्मकामो ररक्ष धर्माद्विषयेषु मुञ्चन् ॥५५॥

पृथ्वी पर अपनी श्री की रक्षा चाहनेवाले भूपाल अपने पुत्रों की रक्षा करते हैं; किंतु इस धर्माभिलाषी राजा ने अपने पुत्र को (इन्द्रिय-) विषयों में छोड़ते हुए उसकी धर्म से रक्षा की ॥ ५५ ॥

वनमनुपमसत्त्वा बोधिसत्त्वास्तु सर्वे
विषयसुखरसज्ञा जग्मुरुत्पन्नपुत्राः ।
अत उपचितकर्मा रूढमूलेऽपि हेतौ
स रतिमुपसिषेवे बोधिमापन्न यावत् ॥५६॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविहारो नाम द्वितीयः सर्गः ।

अनुपम स्वभाववाले सब बोधिसत्त्व विषय-सुख का रस जानकर, पुत्र उत्पन्न होने पर, वन को गये; अतः (राग, द्वेष, मोह को क्षीण करनेवाले) कर्मों के इकट्ठे होने से (कल्याण का) हेतु रूढ़मूल (=सुदृढ़) होने पर भी, उसने बुद्धत्व पाने तक विषयों का कुछ कुछ सेवन किया ॥ ५६ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "अन्तःपुर-विहार" नामक
दूसरा सर्ग समाप्त ।

५६—बोधिसत्त्व=बोधि, अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करनेवाला प्राणी; वह व्यक्ति, जिसे बुद्धत्व प्राप्त होगा ।

५१—"पुत्रस्थितये" का दूसरा अर्थ होगा "पुत्र के (घर में ही) रहने के लिए" ।

तीसरा सर्ग

संवेग-उत्पत्ति

ततः कदाचिन्मृदुशाद्वलानि पुंस्कोकिलोन्नादितपादपानि ।
शुश्राव पद्माकरमण्डितानि गीतैर्निबद्धानि स काननानि ॥ १ ॥

तब एक बार उसने गीत-निबद्ध काननों के बारे में सुना, जो मृदु और हरे तृणों से युक्त थे, जिनके पेड़ कोयलों से निनादित थे और जो कमल के पोखरों से मण्डित थे ॥ १ ॥

श्रुत्वा ततः स्त्रीजनवल्लभानां मनोज्ञभावं पुरकाननानाम् ।
बहिःप्रयाणाय चकार बुद्धिमन्तर्गृहे नाग इवावरुद्धः ॥ २ ॥

तब स्त्रियों के प्रिय पुर-काननों की मनोहरता सुनकर, घर के भीतर बँधे हाथी के समान उसने बाहर जाने का विचार किया ॥ २ ॥

ततो नृपस्तस्य निशम्य भावं पुत्राभिधानस्य मनोरथस्य ।
स्नेहस्य लक्ष्म्या वयसश्च योग्यामाज्ञापयामास विहारयात्राम् ॥ ३ ॥

तब पुत्र-नामक उस मनोरथ का विचार सुनकर, राजा ने स्नेह, लक्ष्मी और वयस के योग्य विहार-यात्रा की आज्ञा की ॥ ३ ॥

निवर्तयामास च राजमार्गे संपातमार्तस्य पृथग्जनस्य ।
मा भूत्कुमारः सुकुमारचित्तः संविग्नचेता इति मन्यमानः ॥ ४ ॥

और राज-मार्ग पर आर्त जनता का निकलना रोक दिया, यह सोचते हुए कि सुकुमार मनवाले कुमार के चित्त में कहीं संवेग न हो जाय ॥ ४ ॥

प्रत्यङ्गहीनान्विकलेन्द्रियांश्च जीर्णातुरादीन् कृपणांश्च दिक्षु ।
ततः समुत्सार्य परेण साम्ना शोभां परां राजपथस्य चक्रुः ॥ ५ ॥

अङ्ग-हीनों, विकलेन्द्रियों, वृद्धों, आतुर आदि लोगों तथा बेचारों को सब ओर परम शांति से हटा कर, उन (राज-पुरुषों) ने राज-पथ की परम शोभा की ॥ ५ ॥

ततः कृते श्रीमति राजमार्गे श्रीमान्विनीतानुचरः कुमारः ।
प्रासादपृष्ठादवतीर्य काले कृताभ्यनुज्ञो नृपमभ्यगच्छत् ॥ ६ ॥

तब राज-मार्ग शोभा-युक्त किये जाने पर, आज्ञा पाकर, श्रीमान् कुमार विनीत अनुचरों के साथ प्रासाद पर से समय पर उतरा और राजा के समीप गया ॥ ६ ॥

अथो नरेन्द्रः सुतमागताश्रुः शिरस्युपाघ्राय चिरं निरीक्ष्य ।
गच्छेति चाज्ञापयति स्म वाचा स्नेहान्न चैनं मनसा मुमोच ॥ ७ ॥

तब राजा ने जिसे आँसू आ गये थे, पुत्र के शिर को सूँघ कर उसे देर तक देखा और "जाओ" कहते हुए आज्ञा दी, किंतु स्नेह-वश उसे मन से नहीं छोड़ा ॥ ७ ॥

ततः स जाम्बूनदभाण्डभृद्भिर्युक्तं चतुर्भिर्निभृतैस्तुरङ्गैः ।
अक्लीबविद्वच्छुचिरश्मिधारं हिरण्मयं स्यन्दनमारुरोह ॥ ८ ॥

तब वह सुवर्ण-भाण्ड धारण करनेवाले चार शिक्षित तुरंगों से युक्त सुवर्ण-रथ पर सवार हुआ, जिसका सारथि बलवान्, विद्वान् और पवित्र था ॥ ८ ॥

ततः प्रकीर्णोज्ज्वलपुष्पजालं विषक्तमाल्यं प्रचलत्पताकम् ।
मार्गं प्रपेदे सदृशानुयात्रश्चन्द्रः सनक्षत्र इवान्तरीक्षम् ॥ ९ ॥

तब जिस मार्ग पर उजले फूल बिखरे हुए थे, मालाएँ लटक रही थीं, और पताकाएँ फहरा रहीं थीं उस पर वह योग्य अनुचरों के साथ आया, जैसे आकाश में नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा (आवे) ॥ ९ ॥

८—भाण्ड = अश्व-आभरण ।

कौतूहलात्स्फीततरैश्च नेत्रैर्नीलोत्पलार्धैरिव कीर्यमाणम् ।
शनैः शनै राजपथं जगाहे पौरैः समन्तादभिवीक्ष्यमाणः ॥१०॥

कौतूहल से - अति-विकसित आँखें, जो आधे आधे नीले कमलों के समान थीं, जिस राज-पथ पर बिखर रही थीं उस पर चारों ओर पुर-वासियोंद्वारा देखे जाते हुए उसने धीरे धीरे प्रवेश किया ॥ १० ॥

तं तुष्टुवुः सौम्यगुणेन केचिद्ववन्दिरे दीप्ततया तथान्ये ।
सौमुख्यतस्तु श्रियमस्य केचिद्वैपुल्यमाशंसिषुरायुषश्च ॥११॥

कतिपयों ने उसके सौम्य-गुण के लिए उसकी स्तुति की तथा दूसरों ने दीप्ति के लिए उसकी वन्दना की; किंतु उसकी अनुकूलता के कारण कतिपयों ने उसके लिए लक्ष्मी और दीर्घायु की कामना की ॥ ११ ॥

निःसृत्य कुब्जाश्च महाकुलेभ्यो व्यूहाश्च कैरातकवामनानाम् ।
नार्यः कृशेभ्यश्च निवेशनेभ्यो देवानुयानध्वजवत्प्रणेमुः ॥१२॥

बड़े बड़े कुलों से झुण्ड के झुण्ड कुबड़े किरात व वामन तथा छोटे छोटे घरों से स्त्रियाँ निकल आईं । उन सब ने उसे वैसे ही प्रणाम किया, जैसे (इन्द्र -) देव के जुलूस की ध्वजा को ॥ १२ ॥

ततः कुमारः खलु गच्छतीति श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ।
दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुर्जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥१३॥

तब "कुमार जा रहा है" यह समाचार नौकरों से सुनकर स्त्रियाँ मान्य जन से आज्ञा पाकर, उसे देखने की इच्छा से प्रासाद-तल पर गईं ॥ १३ ॥

ताः स्रस्तकाञ्चीगुणविघ्निताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोचनाश्च ।
वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥१४॥

गिरती करधनी से उन्हें बाधा हुई, सोकर उठने से उनकी आँखें आकुल थीं, समाचार सुनकर उन्होंने गहने पहने, कौतूहल के कारण अविनीत होकर वे गईं ॥ १४ ॥

प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्नूपुरनिस्वनैश्च ।
वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसङ्घानन्योन्यवेगांश्च समाक्षिपन्त्यः ॥१५॥

महल के सोपान पर पद-तलों के निनाद से, करधनियों के शब्द से और नूपुरों की ध्वनि से घरेलू पक्षियों के झुण्डों को डराती हुई तथा एक दूसरे के वेग पर आक्षेप करती हुई (वे गईं) ॥ १५ ॥

कासांचिदासां तु वराङ्गनानां जातत्वराणामपि सोत्सुकानाम् ।
गतिं गुरुत्वाज्जगृहुर्विशालाः श्रोणीरथाः पीनपयोधराश्च ॥१६॥

उत्सुक होकर शीघ्रता करने पर भी उन उत्तम स्त्रियों में से कतिपयों की गति को उनके अपने ही विशाल नितम्बों और पीन पयोधरों ने रोका ॥ १६ ॥

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ न तूर्णम् ।
ह्रियाप्रगल्भा विनिगूहमाना रहःप्रयुक्तानि विभूषणानि ॥१७॥

शीघ्र जाने में समर्थ होने पर भी दूसरी ने अपनी चाल को रोक लिया और वह तेजी से नहीं गई ; वह संकोचशीला एकान्त में पहने गहनों को लाज से छिपाने लगी ॥ १७ ॥

परस्परोत्पीडनपिण्डितानां संमर्दसंक्षोभितकुण्डलानाम् ।
तासां तदा सस्वनभूषणानां वातायनेष्वप्रशमो बभूव ॥१८॥

परस्पर उत्पीड़ित होती हुई वे इकट्ठी हुईं, एक दूसरे की रगड़ से उनके कुण्डल चञ्चल हुए, उनके गहने बज रहे थे, अतः उस समय खिड़कियों पर अशान्ति हुई ॥ १८ ॥

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि ।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥१९॥

खिड़कियों से निकले हुए स्त्रियों के मुख-कमल, जो एक दूसरे के कुण्डल संक्षुब्ध कर रहे थे, ऐसे शोभित हुए, जैसे महलों में कमल लगे हों ॥ १९ ॥

ततो विमानैर्युवतीकरालैः कौतूहलोद्घाटितवातयानैः ।
श्रीमत्समन्तान्नगरं बभासे वियद्विमानैरिव साप्सरोभिः ॥२०॥

तब उन विमानों से, जो युवतियों से दन्तुर लगते थे (अर्थात् दाँत निकाल कर हँस रहे थे) और कौतूहल से जिनके झरोखे खोल दिये गये थे, वह श्री-सम्पन्न नगर चारों ओर इस प्रकार भासित हुआ जिस प्रकार अप्सरा युक्त देव-प्रासादों से स्वर्ग ॥ २० ॥

वातयनानामविशालभावादन्योन्यगण्डार्पितकुण्डलानाम् ।
मुखानि रेजुः प्रमदोत्तमानां बद्धाः कलापा इव पङ्कजानाम् ॥२१॥

खिड़कियाँ बड़ी-बड़ी नहीं होने के कारण जो उत्तम प्रमदाएँ एक दूसरे के गालों पर अपने कुण्डल रक्खे हुए थीं, उनके मुख ऐसे विराजे, जैसे कमलों के बँधे हुए गुच्छे हों ॥ २१ ॥

तं ताः कुमारं पथि वीक्षमाणाः स्त्रियो बभुर्गामिव गन्तुकामाः ।
ऊर्ध्वोन्मुखाश्चैनमुदीक्षमाणा नरा बभुर्द्यामिव गन्तुकामाः ॥२२॥

उस कुमार को मार्ग में जाते देखकर स्त्रियों ने मानो (महलों से) पृथ्वी पर जाने की कामना की और ऊपर मुख उठाकर उसे देखते हुए पुरुषों ने मानो आकाश में जाने की कामना की ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा च तं राजसुतं स्त्रियस्ता जाज्वल्यमानं वपुषा श्रिया च ।
धन्यास्य भार्येति शनैरवोचञ्शुद्धैर्मनोभिः खलु नान्यभावात् ॥२३॥

सौन्दर्य और विभूति से चमकते हुए राजा के उस पुत्र को देखकर स्त्रियों ने शुद्ध मन से, निश्चय ही अन्य भाव से नहीं, धीरे धीरे कहा—"धन्य है इसकी भार्या" ॥ २३ ॥

अयं किल व्यायतपीनबाहू रूपेण साक्षादिव पुष्पकेतुः ।
त्यक्त्वा श्रियं धर्ममुपैष्यतीति तस्मिन् हि ता गौरवमेव चक्रुः ॥२४॥

लम्बी व मोटी बाहुवाला यह कुमार जो रूप में साक्षात् पुष्पकेतु (कामदेव) के समान है, लक्ष्मी को छोड़कर धर्म के समीप जायगा—इस प्रकार उन्होंने उसका गौरव ही किया ॥ २४ ॥

कीर्णं तथा राजपथं कुमारः पौरैर्विनीतैः शुचिधीरवेषैः ।
तत्पूर्वमालोक्य जहर्ष किंचिन्मेने पुनर्भावमिवात्मनश्च ॥२५॥

शुचि और धीर वेषवाले विनीत पुर-वासियों से उस प्रकार भरे हुए राज-पथ को पहले पहल देखकर, वह प्रसन्न हुआ और उसने अपना कुछ पुनर्जन्म-सा माना ॥ २५ ॥

पुरं तु तत्स्वर्गमिव प्रहृष्टं शुद्धाधिवासाः समवेक्ष्य देवाः ।
जीर्णं नरं निर्ममिरे प्रयातुं संचोदनार्थं क्षितिपात्मजस्य ॥२६॥

उस नगर को स्वर्ग के समान प्रसन्न देखकर, शुद्धाधिवास देवों ने एक वृद्ध पुरुष को बनाया कि वह राजा के पुत्र को (घर से वन को) प्रयाण करने के लिए प्रेरित करे ॥ २६ ॥

ततः कुमारो जरयाभिभूतं दृष्ट्वा नरेभ्यः पृथगाकृतिं तम् ।
उवाच संग्राहकमागतास्थस्तत्रैव निष्कम्पनिविष्टदृष्टिः ॥२७॥

तब कुमार ने जरा (=वृद्धावस्था) से अभिभूत उस पुरुष को, जिसकी आकृति (अन्य) पुरुषों से पृथक् थी, देखा और उसी की ओर स्थिर दृष्टि लगाये हुए ध्यान में आकर उसने सारथि से कहाः— ॥२७॥

क एष भोः सूत नरोऽभ्युपेतः केशैः सितैर्यष्टिविषक्तहस्तः ।
भ्रूसंवृताक्षः शिथिलानताङ्गः किं विक्रियैषा प्रकृतिर्यदृच्छा ॥२८॥

"हे सारथि, यह कौन पुरुष आया ? इसके केश सफेद हैं, हाथ में लाठी है, भौंहों से आँखें ढकी हैं, अङ्ग ढीले व झुके हैं। क्या यह विकार है ? या स्वभाव ? या संयोग ?" ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्तः स रथप्रणेता निवेदयामास नृपात्मजाय ।
संरक्ष्यमप्यर्थमदोषदर्शी तैरेव देवैः कृतबुद्धिमोहः ॥२९॥

ऐसा कहे जाने पर उस सारथि ने राजा के पुत्र से गोपनीय बात भी निवेदन कर दी, इसमें अपना दोष नहीं देखा, उन्हीं देवों ने उसका बुद्धि-मोह जो कर दिया था ॥ २९ ॥

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम्।
नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम ययैष भग्नः ॥३०॥

"रूप की हत्या करनेवाली, बल की विपत्ति, शोक की उत्पत्ति (-भूमि), आनन्द की मृत्यु, स्मृति का नाश करनेवाली, इन्द्रियों का शत्रु यह जरा है, जिसने इसे भग्न कर दिया है ॥ ३० ॥

पीतं ह्यनेनापि पयः शिशुत्वे कालेन भूयः परिसृप्तमुर्व्याम्।
क्रमेण भूत्वा च युवा वपुष्मान् क्रमेण तेनैव जरामुपेतः ॥३१॥

बचपन में इसने भी दूध पिया, फिर काल-क्रम से पृथिवी पर पेट के बल चला, क्रम से सुन्दर युवक हुआ, और उसी क्रम से जरा को प्राप्त हुआ है" ॥ ३१ ॥

इत्येवमुक्ते चलितः स किंचिद्राजात्मजः सूतमिदं बभाषे।
किमेष दोषो भविता ममापीत्यस्मै ततः सारथिरभ्युवाच ॥३२॥

ऐसा कहे जाने पर कुछ विचलित होकर उस राजात्मज ने सारथि से कहा—"क्या यह दोष मुझे भी होगा?" तब सारथि ने उसे कहाः—॥ ३२ ॥

आयुष्मतोऽप्येष वयःप्रकर्षो निःसंशयं कालवशेन भावी।
एवं जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः ॥३३॥

"आप आयुष्मान् की भी यह वृद्धावस्था काल-वश निसंदेह होगी। ऐसी रूप-विनाशिनी जरा को लोग जानते हैं और इसे चाहते हैं" ॥ ३३ ॥

ततः स पूर्वाशयशुद्धबुद्धिर्विस्तीर्णकल्पाचितपुण्यकर्मा।
श्रुत्वा जरां संविविजे महात्मा महाशनेर्घोषमिवान्तिके गौः ॥३४॥

तब वह महात्मा, पूर्व के विचारों से जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी और अनेक कल्पों में जिसके पुण्य कर्म एकत्र हुए थे, जरा को सुनकर वैसे ही संविग्न हुआ, जैसे समीप में महावज्र का शब्द सुनकर गाय ॥ ३४ ॥

निःश्वस्य दीर्घं स्वशिरः प्रकम्प्य तस्मिंश्च जीर्णे विनिवेश्य चक्षुः ।
तां चैव दृष्ट्वा जनतां सहर्षां वाक्यं स संविग्न इदं जगाद ॥३५॥

लम्बी साँस लेकर, अपना शिर कँपाकर, उस वृद्ध की ओर दृष्टि लगाये हुए, उस जनता को प्रसन्न देखकर, उस संविग्न ने यह वाक्य कहा:—॥ ३५ ॥

एवं जरा हन्ति च निर्विशेषं स्मृतिं च रूपं च पराक्रमं च ।
न चैव संवेगमुपैति लोकः प्रत्यक्षतोऽपीदृशमीक्षमाणः ॥३६॥

"इस प्रकार जरा, स्मृति, रूप और पराक्रम की विना भेद-भाव के हत्या करती है; और प्रत्यक्ष ऐसा देखते हुए भी लोगों को संवेग नहीं होता है ॥ ३६ ॥

एवं गते सूत निवर्तयाश्वान् शीघ्रं गृहाण्येव भवान्प्रयातु ।
उद्यानभूमौ हि कुतो रतिर्मे जराभये चेतसि वर्तमाने ॥३७॥

ऐसा होने पर, हे सारथि, घोड़ों को लौटाइये, शीघ्र घर को ही आप चलें; चित्त में जरा का भय रहने पर उद्यान-भूमि में मुझे कहाँ से आनन्द होगा ? ॥ ३७ ॥

अथाज्ञया भर्तृसुतस्य तस्य निवर्तयामास रथं नियन्ता ।
ततः कुमारो भवनं तदेव चिन्तावशः शून्यमिव प्रपेदे ॥३८॥

अनन्तर उस स्वामि-पुत्र की आज्ञा से सारथि ने रथ को लौटाया । तब कुमार उसी महल को पहुँचा, जो उस चिन्तित के लिए शून्य-सा था ॥ ३८ ॥

यदा तु तत्रैव न शर्म लेभे जरा जरेति प्रपरीक्षमाणः ।
ततो नरेन्द्रानुमतः स भूयः क्रमेण तेनैव बहिर्जगाम ॥३९॥

"जरा-जरा (क्या है)" इस प्रकार (इसे) परखते हुए जब उसने वहाँ भी शान्ति नहीं पाई, तब राजा की अनुमति से वह फिर उसी क्रम से बाहर गया ॥ ३९ ॥

अथापरं व्याधिपरीतदेहं त एव देवाः ससृजुर्मनुष्यम्।
दृष्ट्वा च तं सारथिमाबभाषे शौद्धोदनिस्तद्गतदृष्टिरेव ॥४०॥

तब उन्हीं देवों ने रोग से ग्रस्त देहवाले दूसरे मनुष्य का सृजन किया और उसे देखकर शुद्धोदन के पुत्र ने उसी की ओर दृष्टि किये हुए सारथि से कहाः—॥ ४० ॥

स्थूलोदरः श्वासचलच्छरीरः स्रस्तांसबाहुः कृशपाण्डुगात्रः।
अम्बेति वाचं करुणं ब्रुवाणः परं समाश्रित्य नरः क एषः ॥४१॥

"यह कौन मनुष्य है? इसका पेट फूला हुआ है, साँस से शरीर काँप रहा है, कंधे और बाहुएँ ढीली हैं, गात दुबला और पीला है। दूसरे का सहारा लेकर 'अम्बा' यह वचन करुणा के साथ कह रहा है" ॥ ४१ ॥

ततोऽब्रवीत्सारथिरस्य सौम्य धातुप्रकोपप्रभवः प्रवृद्धः।
रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि येनैष कृतोऽस्वतन्त्रः ॥४२॥

तब सारथि ने इसे कहा—"हे सौम्य (त्रि-) धातु-प्रकोप से उत्पन्न होकर बढ़ा हुआ यह रोग नामक महा—अनर्थ है, जिसने इस शक्तिमान् को भी परतन्त्र कर दिया है" ॥ ४२ ॥

इत्यूचिवान राजसुतः स भूयस्तं सानुकम्पो नरमीक्षमाणः।
अस्यैव जातो पृथगेष दोषः सामान्यतो रोगभयं प्रजानाम् ॥४३॥

उस मनुष्य को अनुकम्पा के साथ देखते हुए उस नृपात्मज ने फिर कहा—"यह दोष केवल इसी को हुआ है या रोग का भय समान रूप से (सब) प्रजाओं को है?" ॥ ४३ ॥

ततो बभाषे स रथप्रणेता कुमार साधारण एष दोषः।
एवं हि रोगैः परिपीड्यमानो रुजातुरो हर्षमुपैति लोकः ॥४४॥

तब वह सारथि बोला—"हे कुमार, यह दोष साधारण है। इस

४२—त्रिधातु = कफ, पित्त, वायु।

प्रकार रोगों से परिपीड़ित होता हुआ, कष्ट से आतुर संसार हर्ष को प्राप्त होता है" ॥ ४४ ॥

इति श्रुतार्थः स विषण्णचेताः प्रावेपतामूर्मिगतः शशीव ।
इदं च वाक्यं करुणायमानः प्रोवाच किंचिन्मृदुना स्वरेण ॥४५॥

यह व्याख्या सुनकर, वह विषण्ण-चित्त (हो गया और) जल-तरंग में पड़ते चन्द्र (–प्रतिबिम्ब) के समान काँपने लगा और करुण होते हुए उसने कुछ मृदु स्वर से यह वाक्य कहाः—॥ ४५ ॥

इदं च रोगव्यसनं प्रजानां पश्यंश्च विश्रम्भमुपैति लोकः ।
विस्तीर्णमज्ञानमहो नराणां हसन्ति ये रोगभयैरमुक्ताः ॥४६॥

"प्रजाओं की यह रोगरूप विपत्ति देखते हुए भी संसार विश्वस्त (=निर्भीक) रहता है । अहो, (कितना) विशाल अज्ञान है (इन) मनुष्यों का, जो रोग भय से अमुक्त होकर भी हँस रहे हैं ॥ ४६ ॥

निवर्त्यतां सूत बहिःप्रयाणान्नरेन्द्रसद्मैव रथः प्रयातु ।
श्रुत्वा च मे रोगभयं रतिभ्यः प्रत्याहतं संकुचतीव चेतः ॥४७॥

हे सारथि, बाहर जाने से रथ को लौटाइये, यह राज-महल को ही चले । और रोग-भय सुन कर विषयों से प्रत्याहत मेरा मन सिकुड़-सा रहा है" ॥ ४७ ॥

ततो निवृत्तः स निवृत्तहर्षः प्रध्यानयुक्तः प्रविवेश वेश्म ।
तं द्विस्तथा प्रेक्ष्य च संनिवृत्तं पर्येषणं भूमिपतिश्चकार ॥४८॥

तब हर्ष-रहित होकर वह लौटा, ध्यान-युक्त होकर अपने महल में प्रवेश किया । और उसे दो बार उस प्रकार लौटा देखकर, राजा ने जिज्ञासा की ॥ ४८ ॥

श्रुत्वा निमित्तं तु निवर्तनस्य संत्यक्तमात्मानमनेन मेने ।
मार्गस्य शौचाधिकृताय चैव चुक्रोश रुष्टोऽपि च नोग्रदण्डः ॥४९॥

लौटने का कारण सुनकर उसने अपने को उससे त्यक्त माना । और

मार्ग के शौचाधिकारी की भर्त्सना की, रुष्ट होने पर भी वह उग्रदण्ड नहीं हुआ अर्थात् कठोर दण्ड नहीं दिया ॥ ४९ ॥

भूयश्च तस्मै विदधे सुताय विशेषयुक्तं विषयप्रचारम् ।
चलेन्द्रियत्वादपि नाम सक्तो नास्मान्विजह्यादिति नाथमानः ॥५०॥

और फिर उस पुत्र के लिए विशेष विषय-सेवन का प्रबंध किया, इस आशा से कि—"शायद इन्द्रिय-चञ्चलता के कारण (विषयों में) आसक्त होकर (यह) हमें न छोड़े" ॥ ५० ॥

यदा च शब्दादिभिरिन्द्रियार्थैरन्तःपुरे नैव सुतोऽस्य रेमे ।
ततो बहिर्व्यादिशति स्म यात्रां रसान्तरं स्यादिति मन्यमानः ॥५१॥

और जब शब्द-आदि इन्द्रिय-विषयों से अन्तःपुर में उसके पुत्र को आनन्द नहीं हुआ, तब (उसने) बाहर यात्रा करने का आदेश दिया यह समझते हुए कि (इससे कहीं) रुचि-परिवर्तन हो जाय ॥ ५१ ॥

स्नेहाच्च भावं तनयस्य बुद्ध्वा स रागदोषानविचिन्त्य कांश्चित् ।
योग्याः समाज्ञापयति स्म तत्र कलास्वभिज्ञा इति वारमुख्याः ॥५२॥

और स्नेह से पुत्र का भाव समझकर तथा राग के किन्हीं दोषों का बिना विचार किए ही उसने कलाओं में निपुण योग्य वारमुख्यों (=सम्मानित वेश्याओं) को वहाँ (रहने की) आज्ञा दी ॥ ५२ ॥

ततो विशेषेण नरेन्द्रमार्गे स्वलंकृते चैव परीक्षिते च ।
व्यत्यस्य सूतं च रथं च राजा प्रस्थापयामास बहिः कुमारम् ॥५३॥

तब विशेषता के साथ राज-मार्ग अलङ्कृत और परीक्षित होने पर, सारथि एवं रथ को बदल कर राजा ने कुमार को बाहर प्रस्थान कराया ॥ ५३ ॥

ततस्तथा गच्छति राजपुत्रे तैरेव देवैर्विहितो गतासुः ।
तं चैव मार्गे मृतमुह्यमानं सूतः कुमारश्च ददर्श नान्यः ॥५४॥

जब राजा का पुत्र उस प्रकार जा रहा था, तब उन्हीं देवों ने एक

निष्प्राण (व्यक्ति) को बनाया। और मार्ग में ढोये जाते उस मरे हुए को सारथि और कुमार ने देखा, दूसरे किसी ने नहीं ॥ ५४ ॥

अथाब्रवीद्राजसुतः स सूतं नरैश्चतुर्भिर्ह्रियते क एषः।
दीनैर्मनुष्यैरनुगम्यमानो * भूषितश्चाप्यवरुद्यते च ॥५५॥

तब उस राज-कुमार ने सारथि से कहा—"यह कौन है ? इसे चार पुरुष लिये जा रहे हैं, दीन मनुष्य इसके पीछे पीछे जा रहे है, और विशेषता से भूषित होने पर भी इसके लिए रोया जा रहा है" ॥ ५५ ॥

ततः स शुद्धात्मभिरेव देवैः शुद्धाधिवासैरभिभूतचेताः।
अवाच्यमप्यर्थमिमं नियन्ता प्रव्याजहारार्थवदीश्वराय ॥५६॥

तब शुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देवों ने जिसका चित्त अभिभूत कर दिया था उस सारथि ने यह अवाच्य बात भी (उस) नर-श्रेष्ठ से कहीः— ॥ ५६ ॥

बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्वियुक्तः सुप्तो विसंज्ञस्तृणकाष्ठभूतः।
संवर्ध्य संरक्ष्य च यत्नवद्भिः प्रियप्रियैस्त्यज्यत एष कोऽपि ॥५७॥

"यह कोई है, जो बुद्धि इन्द्रियों प्राणों और गुणों से वियुक्त, (सदा के लिए) सोया हुआ और संज्ञा-हीन है, तथा तृण एवं काष्ठ (के समान) हो गया है। प्रयत्नपूर्वक संवर्धन और संरक्षण करके भी प्रिय (स्व-) जन इसे छोड़ रहे हैं" ॥ ५७ ॥

इति प्रणेतुः स निशम्य वाक्यं संचुक्षुभे किंचिदुवाच चैनम्।
किं केवलोऽस्यैव जनस्य धर्मः सर्वप्रजानामयमीदृशोऽन्तः ॥५८॥

सारथि का वाक्य सुनकर, वह कुछ संक्षुब्ध हुआ और उसे कहा—"क्या यह धर्म केवल इसी मनुष्य का है या प्रजाओं का अन्त ऐसा ही है ?" ॥ ५८ ॥

ततः प्रणेता वदति स्म तस्मै सर्वप्रजानामिदमन्तकर्म।
हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ॥५९॥

तब सारथि ने उससे कहा—"सब प्रजाओं का यह अन्तिम कर्म है।

हीन मध्य या महात्मा का, संसार में सबका, विनाश नियत है" ॥ ५९ ॥

ततः स धीरोऽपि नरेन्द्रसूनुः श्रुत्वैव मृत्युं विषसाद सद्यः ।
अंसेन संश्लिष्य च कूबराग्रं प्रोवाच निह्लादवता स्वरेण ॥६०॥

तब धीर होने पर भी उस राजकुमार को, मृत्यु (की बात) सुनकर, तुरत विषाद हो गया । और कंधे से कूबर के अग्रभाग का सहारा लेकर, उसने गम्भीर स्वर से कहा:— ॥ ६० ॥

इयं च निष्ठा नियता प्रजानां प्रमाद्यति त्यक्तभयश्च लोकः ।
मनांसि शङ्के कठिनानि नृणां स्वस्थास्तथा ह्यध्वनि वर्तमानाः ॥६१॥

"प्रजाओं का यह विनाश नियत है और संसार भय छोड़कर असावधानी कर रहा है । मनुष्यों के मन, मैं सोचता हूँ, कठोर हैं; क्योंकि (मृत्यु-) मार्ग में रहते हुए वे उस प्रकार सुखी हैं ॥ ६१ ॥

तस्माद्रथः सूत निवर्त्यतां नो विहारभूमेर्न हि देशकालः ।
जानन्विनाशं कथमार्तिकाले सचेतनः स्यादिह हि प्रमत्तः ॥६२॥

इसलिए, हे सारथि, हमारे रथ को लौटाइये, विहार-भूमि (में जाने) का (यह) देश-काल नहीं है । अपना विनाश जानता हुआ (कोई भी) बुद्धिमान संकट-काल में कैसे असावधान हो सकता है ?" ॥ ६२ ॥

इति ब्रुवाणेऽपि नराधिपात्मजे निवर्तयामास स नैव तं रथम् ।
विशेषयुक्तं तु नरेन्द्रशासनात्स पद्मषण्डं वनमेव निर्ययौ ॥६३॥

राजपुत्र के ऐसा बोलते रहने पर भी उसने रथ को नहीं लौटाया, किंतु राजा की आज्ञा से वह पद्मषण्ड वन को निकल गया, जो विशेषता से युक्त था ॥ ६३ ॥

ततः शिवं कुसुमितबालपादपं परिभ्रमत्प्रमुदितमत्तकोकिलम् ।
विमानवत्स कमलचारुदीर्घिकं ददर्श तद्वनमिव नन्दनं वनम ॥६४॥

तब उसने कुसुमित बाल-पादपों, घूमते हुए प्रमुदित मत्त कोकिलों,

६०—कूबर = रथ का कोई भाग ।

विमानों, तथा कमलों के सुन्दर पोखरों से युक्त उस भव्य वन को देखा, जो नन्दन वन के समान था ॥ ६४ ॥

वराङ्गनागणकलिलं नृपात्मजस्ततो बलाद्वनमतिनीयते स्म तत् ।
वराप्सरोवृतमलकाधिपालयं नवव्रतो मुनिरिव विघ्नकातरः ॥६५॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये संवेगोत्पत्तिर्नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

तब श्रेष्ठ स्त्रियों से भरे वन में राजा का पुत्र बलात् ले जाया गया, जैसे श्रेष्ठ अप्सराओं से पूर्ण कुबेर-प्रासाद में नया व्रतवाला विघ्न कातर मुनि (बलात् ले जाया जा रहा हो) ॥ ६५ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "संवेग—उत्पत्ति" नामक
तीसरा सर्ग समाप्त ।

—o—

६५—विघ्न-कातर=विघ्न (पड़ने के भय) से कातर ।

चौथा सर्ग

स्त्री-निवारण

ततस्तस्मात्पुरोद्यानात्कौतूहलचलेक्षणाः ।
प्रत्युज्जग्मुर्नृपसुतं प्राप्तं वरमिव स्त्रियः ॥ १ ॥

तब उस नगर-उद्यान से निकल कर कौतूहल से चञ्चल आँखोंवाली स्त्रियों ने राजा के पुत्र की, मानो आये हुए वर की, अगवानी की ॥ १ ॥

अभिगम्य च तास्तस्मै विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
चक्रिरे समुदाचारं पद्मकोशनिभैः करैः ॥ २ ॥

समीप आकर उन्होंने, जिनकी आँखे विस्मय से विकसित हो गईं, पद्मकोश-सदृश हाथों (के सम्पुटों) से उसका सत्कार किया ॥ २ ॥

तस्थुश्च परिवार्यैनं मन्मथाक्षिप्तचेतसः ।
निश्चलैः प्रीतिविकचैः पिबन्त्य इव लोचनैः ॥ ३ ॥

और काम से आकृष्ट चित्तवाली वे (स्त्रियाँ) उसे घेरकर प्रीति से विकसित हुई निश्चल आँखों से उसे मानो पीती रहीं (अर्थात् उसके रूप-सुधा का पान करती रहीं) ॥ ३ ॥

तं हि ता मेनिरे नार्यः कामो विग्रहवानिति ।
शोभितं लक्षणैर्दीप्तैः सहजैर्भूषणैरिव ॥ ४ ॥

उज्ज्वल लक्षणों से, मानो स्वाभाविक भूषणों से, शोभित उस (कुमार) को उन नारियों ने मूर्त्त कामदेव माना ॥ ४ ॥

सौम्यत्वाच्चैव धैर्याच्च काश्चिदेनं प्रजज्ञिरे ।
अवतीर्णो महीं साक्षाद् गूढांशुश्चन्द्रमा इति ॥ ५ ॥

उसकी सौम्यता और धैर्य से कतिपयों ने उसे पृथ्वी पर अवतीर्ण साक्षात् चन्द्रमा माना, जिसकी किरणें गुप्त थीं ॥ ५ ॥

तस्य ता वपुषाक्षिप्ता निगृहीतं जजृम्भिरे ।
अन्योन्यं दृष्टिभिर्हत्वा शनैश्च विनिशश्वसुः ॥ ६ ॥

उसके रूप से आकृष्ट होकर, उन्होंने (हाथों से मुँह) पकड़े हुए जँभाई ली और एक दूसरे के ऊपर दृष्टि से प्रहार कर धीरे धीरे साँसें लीं ॥ ६ ॥

एवं ता दृष्टिमात्रेण नार्यो ददृशुरेव तम् ।
न व्याजह्रुर्न जहसुः प्रभावेणास्य यन्त्रिताः ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन स्त्रियों ने केवल आँखों से उसे देखा और उसके प्रभाव के वश में होकर, वे न (कुछ) बोलीं, न हँसीं ॥ ७ ॥

तास्तथा तु निरारम्भा दृष्ट्वा प्रणयविक्लवाः ।
पुरोहितसुतो धीमानुदायी वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

उन्हें उस प्रकार से (कुछ) आरम्भ नहीं करती तथा प्रेम-विह्वल देखकर, पुरोहित-पुत्र बुद्धिमान् उदायी ने ये वचन कहे:—॥ ८ ॥

सर्वाः सर्वकलाज्ञाः स्थ भावग्रहणपण्डिताः ।
रूपचातुर्यसंपन्नाः स्वगुणैर्मुख्यतां गताः ॥ ९ ॥

"तुम सब सब कलाओं में निपुण हो, भाव जानने में निपुण हो, रूप और चतुराई से युक्त हो, अपने गुणों से मुख्यता को प्राप्त हो ॥ ९ ॥

शोभयेत गुणैरेभिरपि तानुत्तरान् कुरून् ।
कुबेरस्यापि चाक्रीडं प्रागेव वसुधामिमाम् ॥१०॥

इन गुणों से उत्तर कुरुओं को भी शोभित कर सकती हो, कुबेर के उद्यान को भी, इस वसुधा को तो पहले ही ॥ १० ॥

१०—उत्तर कुरु एक वर्गाकार द्वीप है, जो मेरु के उत्तर भाग में स्थित है—अ० को० ३.५५.

शक्ताश्चालयितुं यूयं वीतरागानृषीनपि ।
अप्सरोभिश्च कलितान् ग्रहीतुं विबुधानपि ॥११॥

तुमलोग वीतराग ऋषियों को भी चलायमान कर सकती हो और अप्सराओं के वशीभूत देवों को भी आकृष्ट कर सकती हो ॥ ११ ॥

भावज्ञानेन हावेन रूपचातुर्यसंपदा ।
स्त्रीणामेव च शक्ताः स्थ संरागे किं पुनर्नृणाम् ॥१२॥

भाव-ज्ञान से, हाव-भाव से, तथा रूप व चतुरताकी सम्पत्ति से स्त्रियों को भी अनुरक्त कर सकती हो, फिर पुरुषों का क्या कहना ॥ १२ ॥

तासामेवंविधानां वो वियुक्तानां स्वगोचरे ।
इयमेवंविधा चेष्टा न तुष्टोऽस्म्यार्जवेन वः ॥१३॥

ऐसी तुमलोगों में से उनका, जो अपने अपने विषय में जुट नहीं रही हैं, यह ऐसा आचरण ! तुम लोगों की सरलता से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ ॥ १३ ॥

इदं नववधूनां वो ह्रीनिकुञ्चितचक्षुषाम् ।
सदृशं चेष्टितं हि स्यादपि वा गोपयोषिताम् ॥१४॥

तुम लोगों का यह आचरण लाज से आँख मींचनेवाली नव-वधुओं या गोप-स्त्रियों के योग्य है ॥ १४ ॥

यदपि स्यादयं धीरः श्रीप्रभावान्महानिति ।
स्त्रीणामपि महत्तेज इतः कार्योऽत्र निश्चयः ॥१५॥

यद्यपि यह धीर तथा बड़ा ही श्रीमान् और प्रभावान् हो सकता है, स्त्रियों का भी तेज महान् है। इसलिए इस (विषय) में निश्चय करो ॥ १५ ॥

पुरा हि काशिसुन्दर्या वेशवध्वा महानृषिः ।
ताडितोऽभूत्पदा व्यासो दुर्धर्षो देवतैरपि ॥१६॥

प्राचीनकाल में काशि-सुन्दरी (नामक) वेश्या ने महर्षि व्यास को, जो देवताओं के लिए भी दुर्धर्ष था, पाँव से मारा ॥ १६ ॥

मन्थालगौतमो भिक्षुर्जङ्घया वारमुख्यया ।
पिप्रीषुश्च तदर्थार्थं व्यसूञ्निरहरत्पुरा ॥१७॥

पूर्वकाल में जङ्घा नामक वेश्या से सम्भोग करने की इच्छा से और उसे प्रसन्न करने की इच्छा से, मन्थाल गौतम ने उसके धन के लिए लाशों को ढोया ॥ १७ ॥

गौतमं दीर्घतपसं महर्षिं दीर्घजीविनम् ।
योषित्संतोषयामास वर्णस्थानावरा सती ॥१८॥

दीर्घतपस गौतम (नामक) महर्षि को, जो दीर्घ काल तक जीवन धारण कर चुका था, नीच वर्ण व स्थिति की स्त्री ने संतुष्ट किया ॥१८॥

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतं तथैव स्त्रीष्वपण्डितम ।
उपायैर्विविधैः शान्ता जग्राह च जहार च ॥१९॥

उसी प्रकार मुनि-तनय ऋष्यशृङ्ग को, जो स्त्रियों (के विषय) में अज्ञानी था, शान्ता विविध उपायों से पकड़ कर ले गई ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महर्षिश्च विगाढोऽपि महत्तपः ।
दश वर्षाण्यहर्मेने घृताच्याप्सरसा हृतः ॥२०॥

महा-तपस्या में अवगाहन करने पर भी महर्षि विश्वामित्र घृताची अप्सरा के द्वारा हरण किया गया और उस महर्षि ने उसके साथ (बिताये गये) दश वर्षों को एक दिन माना ॥ २० ॥

एवमादीनृषींस्तांस्ताननयन्विक्रियां स्त्रियः ।
ललितं पूर्ववयसं किं पुनर्नृपतेः सुतम् ॥२१॥

इस प्रकार उन उन आद्य ऋषियों को स्त्रियों ने विकृत किया । फिर राजा के सुन्दर और तरुण पुत्र का क्या कहना ॥ २१ ॥

१७—भज्+सन्+उ=भिक्षुः । सम्भवतः उस वेश्या के यहाँ जानेवाले धनवान् पुरुषों की धन के लोभ से हत्या की जाती होगी और मन्थाल गौतम शवों को ढोता होगा ।

तदेवं सति विश्रब्धं प्रयतध्वं तथा यथा ।
इयं नृपस्य वंशश्रीरितो न स्यात्पराङ्मुखी ॥ २२ ॥

ऐसा होने पर विश्वासपूर्वक वैसा प्रयत्न करो जिससे राजा की यह वंश-लक्ष्मी यहाँ से विमुख न हो जाय ॥ २२ ॥

या हि काश्चिद्युवतयो हरन्ति सदृशं जनम् ।
निकृष्टोत्कृष्टयोर्भावं या गृह्णन्ति तु ताः स्त्रियः ॥ २३ ॥

जो कोई भी युवतियाँ (अपने) सदृश जन का (चित्त) हरण कर सकती हैं; किंतु निकृष्ट और उत्कृष्ट के (मनो-) भाव को जो आकृष्ट करती है वे ही (वास्तविक) स्त्रियाँ हैं ।" ॥ २३ ॥

इत्युदायिवचः श्रुत्वा ता विद्धा इव योषितः ।
समारुरुहुरात्मानं कुमारग्रहणं प्रति ॥ २४ ॥

उदायी के ये वचन सुनकर (बाण-) विद्ध-सी वे स्त्रियाँ कुमार को आकृष्ट करने के लिए अपने ऊपर आरूढ़ हुईं (तुल गईं) ॥ २४ ॥

ता भ्रूभिः प्रेक्षितैर्हावैर्हसितैर्लडितैर्गतैः ।
चक्रुराक्षेपिकाश्चेष्टा भीतभीता इवाङ्गनाः ॥ २५ ॥

भय-भीत सी उन स्त्रियों ने भौंहों, दृष्टि-पातों, हावों, हासों, विलासों और चालों से आकर्षक चेष्टाएँ कीं ॥ २५ ॥

राज्ञस्तु विनियोगेन कुमारस्य च मार्दवात् ।
जहुः क्षिप्रमविश्रम्भं मदेन मदनेन च ॥ २६ ॥

राजा के आदेश और कुमार की मृदुता के कारण मद व मदन के वश होकर उन्होंने शीघ्र ही अविश्वास छोड़ा ॥ २६ ॥

अथ नारीजनवृतः कुमारो व्यचरद्वनम् ।
वासितायूथसहितः करीव हिमवद्वनम् ॥ २७ ॥

तब स्त्रियों से घिरे कुमार ने वन में विचरण किया, जैसे हथिनियों के साथ हाथी हिमालय के वन में ॥ २७ ॥

स तस्मिन् कानने रम्ये जज्वाल स्त्रीपुरःसरः ।
आक्रीड इव विभ्राजे विवस्वानप्सरोवृतः ॥ २८ ॥

उस रम्य कानन में स्त्रियों के आगे आगे जानेवाला वह वैसे ही प्रज्वलित हुआ, जैसे विभ्राज (=वैभ्राज) उद्यान में अप्सराओं से घिरा विवस्वान (=देवता या सूर्य) ॥ २८ ॥

मदेनावर्जिता नाम तं काश्चित्तत्र योषितः ।
कठिनैः पस्पृशुः पीनैः संहतैर्वल्गुभिः स्तनैः ॥ २९ ॥

मद से अवनत कुछ स्त्रियों ने अपने कठिन, पीन, दृढ़ और सुन्दर स्तनों से उसे स्पर्श किया ॥ २९ ॥

स्रस्तांसकोमलालम्बमृदुबाहुलताबला ।
अनृतं स्खलितं काचित्कृत्वैनं सस्वजे बलात् ॥ ३० ॥

झुके हुए कंधे से कोमलतापूर्वक लटकती मृदु बाहुलताओंवाली किसी अबला ने बनावटी गिरना दिखाकर उसे बलात् आलिङ्गन किया ॥ ३० ॥

काचित्ताम्राधरोष्ठेन मुखेनासवगन्धिना ।
विनिशश्वास कर्णेऽस्य रहस्यं श्रूयतामिति ॥ ३१ ॥

किसी ने मदिरा-गन्ध-युक्त मुख से, जिसका निचला ओठ ताम्रवर्ण का था, उसके कान में धीरे धीरे कहा—"रहस्य सुनिये" ॥ ३१ ॥

काचिदाज्ञापयन्तीव प्रोवाचार्द्रानुलेपना ।
इह भक्तिं कुरुष्वेति हस्तसंश्लेषलिप्सया ॥ ३२ ॥

गीला अनुलेपवाली किसी ने (उसके) हाथ का स्पर्श पाने की इच्छा से मानो आज्ञा देते हुए कहा—"यहाँ भक्ति करो" ॥ ३२ ॥

३१—विनिशश्वास = साँसे छोड़ीं, वचन से नहीं कहकर साँसों से कहा अर्थात् इतना धीरे धीरे कहा कि केवल साँसें ही सुन पड़ती थीं।

३२—भक्ति = शोभा के लिए शरीर पर की जानेवाली रेखा-रचना; श्रद्धा, प्रेम।

मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्तनीलांशुकापरा ।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा ॥ ३३ ॥

मद के बहाने बार बार नीला अंशुक गिरानेवाली दूसरी स्त्री, जिसकी करधनी कुछ कुछ दिखाई पड़ती थी, चमकती बिजलीवाली रात के समान शोभित हुई ॥ ३३ ॥

काश्चित्कनककाञ्चीभिर्मुखराभिरितस्ततः ।
बभ्रमुर्दर्शयन्त्योऽस्य श्रोणीस्तन्वंशुकावृताः ॥ ३४ ॥

मुखर सुवर्ण-कटि-भूषणों से, महीन कपड़ों से ढके अपने नितम्बों को दिखाती हुई कोई इधर उधर घूमीं ॥ ३४ ॥

चूतशाखां कुसुमितां प्रगृह्यान्या ललम्बिरे ।
सुवर्णकलशप्रख्यान्दर्शयन्त्यः पयोधरान् ॥ ३५ ॥

दूसरी (स्त्रियाँ) आम की कुसुमित डाल पकड़कर, सुवर्ण-कलश-सदृश अपने स्तनों को दिखाती हुई, लटकीं ॥ ३५ ॥

काचित्पद्मवनादेत्य सपद्मा पद्मलोचना ।
पद्मवक्त्रस्य पार्श्वेऽस्य पद्मश्रीरिव तस्थुषी ॥ ३६ ॥

कोई कमलाक्षी कमल-वन से कमल के साथ आकर उस कमल-मुख के पास कमल की श्री के समान खड़ी हुई ॥ ३६ ॥

मधुरं गीतमन्वर्थं काचित्साभिनयं जगौ ।
तं स्वस्थं चोदयन्तीव वञ्चितोऽसीत्यवेक्षितैः ॥ ३७ ॥

किसी ने स्पष्ट अर्थ से युक्त मधुर गीत अभिनयपूर्वक गाया, और उस स्वस्थ को दृष्टि-पातों से उत्तेजित करते हुए मानो कहा—"तुम वञ्चित हो रहे हो" ॥ ३७ ॥

शुभेन वदनेनान्या भ्रूकार्मुकविकर्षिणा ।
प्रावृत्यानुचकारास्य चेष्टितं धीरलीलया ॥ ३८ ॥

दूसरी ने लौटकर भौंहरूप तीर खींचनेवाले सुन्दर मुख से इसकी चेष्टा का स्थिर लीला से अनुकरण किया ॥ ३८ ॥

पीनवल्गुस्तनी काचिद्धासाघूर्णितकुण्डला ।
उच्चैरवजहासैनं समाप्नोतु भवानिति ॥ ३९ ॥

परिपूर्ण एवं सुन्दर स्तनोंवाली किसी ने, जिसके कुंडल उसकी हँसी से हिल रहे थे, "आप समाप्त करें," यह कहते हुए, जोरों से उसका उपहास किया ॥ ३९ ॥

अपयान्तं तथैवान्या बबन्धुर्माल्यदामभिः ।
काश्चित्साक्षेपमधुरैर्जगृहुर्वचनाङ्कुशैः ॥ ४० ॥

उसी प्रकार दूसरी ने (वहाँ से) हँटते हुए (कुमार को) मालाओं की डोरियों से बाँधा; किन्हीं ने आक्षेप-युक्त मधुर वचनरूप अङ्कुशों से उसे रोका ॥ ४० ॥

प्रतियोगार्थिनी काचिद्गृहीत्वा चूतवल्लरीम् ।
इदं पुष्पं तु कस्येति पप्रच्छ मदविक्लवा ॥ ४१ ॥

प्रतियोग (=विरोध) चाहनेवाली किसी ने आम की मञ्जरी लेकर मद से विह्वल होते हुए पूछा—"यह फूल किसका है ?" ॥ ४१ ॥

काचित्पुरुषवत्कृत्वा गतिं संस्थानमेव च ।
उवाचैनं जितः स्त्रीभिर्जय भो पृथिवीमिमाम् ॥ ४२ ॥

किसी ने पुरुष के समान गति और आकृति बना कर उसे कहा—"तुम स्त्रियों द्वारा जीते गये, अब इस पृथिवी को जीतो" ॥ ४२ ॥

अथ लोलेक्षणा काचिज्जिघ्रन्ती नीलमुत्पलम् ।
किंचिन्मदकलैर्वाक्यैर्नृपात्मजमभाषत ॥ ४३ ॥

तब नीले कमल को सूँघती हुई किसी चञ्चलाक्षी ने मद से कुछ कुछ अस्फुट वचनों में राजकुमार से कहा—॥ ४३ ॥

पश्य भर्तश्चितं चूतं कुसुमैर्मधुगन्धिभिः ।
हेमपञ्जररुद्धो वा कोकिलो यत्र कूजति ॥ ४४ ॥

"स्वामिन्, मधु-गन्ध-युक्त फूलों से भरे आम को देखिये, जहाँ

कोकिल इस प्रकार (निश्चल होकर) कूज रहा है, जैसे सोने के पिंजड़े में बन्द हो ॥ ४४ ॥

अशोको दृश्यतामेष कामिशोकविवर्धनः ।
रुवन्ति भ्रमरा यत्र दह्यमाना इवाग्निना ॥ ४५ ॥

कामियों का शोक बढ़ानेवाले इस अशोक को देखिये, जहाँ भौंरे इस तरह गूँज रहे हैं, जैसे आग से जल रहे हों ॥ ४५ ॥

चूतयष्ट्या समाश्लिष्टो दृश्यतां तिलकद्रुमः ।
शुक्लवासा इव नरः स्त्रिया पीताङ्गरागया ॥ ४६ ॥

आम की शाखा से आलिङ्गित होते तिलक-वृक्ष को देखिये, जैसे श्वेतवस्त्रधारी पुरुष पीत अङ्ग-रागवाली स्त्री से आलिङ्गित हो रहा हो ॥४६॥

फुल्लं कुरुबकं पश्य निर्भुक्तालक्तकप्रभम् ।
यो नखप्रभया स्त्रीणां निर्भर्त्सित इवानतः ॥ ४७ ॥

निचोड़े हुए अलक्तक (=लाख) के समान प्रभावान् विकसित कुरुबक को देखिये, जो स्त्रियों की नख प्रभा से मानो खूब फटकारा जाकर झुक गया है ॥ ४७ ॥

बालाशोकश्च निचितो दृश्यतामेष पल्लवैः ।
योऽस्माकं हस्तशोभाभिर्लज्जमान इव स्थितः ॥ ४८ ॥

पल्लवों से भरे इस बाल अशोक को देखिये जो हमारे हाथों की शोभा से मानो लजाता हुआ खड़ा है ॥ ४८ ॥

दीर्घिकां प्रावृतां पश्य तीरजैः सिन्दुवारकैः ।
पाण्डुरांशुकसंवीतां शयानां प्रमदामिव ॥ ४९ ॥

तीर पर उत्पन्न होनेवाले सिन्दुवारों से आच्छादित दीर्घिका (= जलाशय) को देखिये, जो श्वेत वस्त्र से ढकी सो रही प्रमदा के समान है ॥ ४९ ॥

दृश्यतां स्त्रीषु माहात्म्यं चक्रवाको ह्यसौ जले ।
पृष्ठतः प्रेष्यवद्भार्यामनुवर्त्यनुगच्छति ॥ ५० ॥

स्त्रियों का माहात्म्य तो देखिये; वह आज्ञाकारी चक्रवाक जल में अपनी पत्नी के पीछे पीछे नौकर के समान जा रहा है ॥ ५० ॥

मत्तस्य परपुष्टस्य रुवतः श्रूयतां ध्वनिः।
अपरः कोकिलोऽन्वक्षं प्रतिश्रुत्केव कूजति ॥ ५१ ॥

बोलते हुए मत्त कोकिल की ध्वनि सुनिये; दूसरा कोकिल पीछे की ओर प्रतिध्वनि के समान कूज रहा है ॥ ५१ ॥

अपि नाम विहङ्गानां वसन्तेनाहृतो मदः।
न तु चिन्तयतोऽचिन्त्यं जनस्य प्राज्ञमानिनः ॥ ५२ ॥

क्या वसन्त पक्षियों को मद ला सकता है और अचिन्त्य की चिन्ता करनेवाले प्राज्ञ एवं मानी मनुष्य को नहीं ?" ॥ ५२ ॥

इत्येवं ता युवतयो मन्मथोद्दामचेतसः।
कुमारं विविधैस्तैस्तैरुपचक्रमिरे नयैः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार काम से उच्छृङ्खल चित्तवाली उन युवतियों ने उन उन विविध नीतियों से कुमार को (आकृष्ट करने का) उपक्रम किया ॥५३॥

एवमाक्षिप्यमाणोऽपि स तु धैर्यावृतेन्द्रियः।
मर्तव्यमिति सोद्वेगो न जहर्ष न विव्यथे ॥ ५४ ॥

इस प्रकार आकृष्ट किये जाने पर भी, वह धीर इन्द्रियवाला "मरना पड़ेगा" इस (विचार) से उद्वेग-युक्त होकर न आनन्दित हुआ और न व्यथित ॥ ५४ ॥

तासां तत्त्वेऽनवस्थानं दृष्ट्वा स पुरुषोत्तमः।
समं विग्नेन धीरेण चिन्तयामास चेतसा ॥ ५५ ॥

तत्त्व में उनकी स्थिरता न देखकर उस पुरुषोत्तम ने एक ही साथ संविग्न व धीर चित्त से सोचाः— ॥ ५५ ॥

किं विमा नावगच्छन्ति चपलं यौवनं स्त्रियः।
यतो रूपेण संमत्तं जरा यन्नाशयिष्यति ॥ ५६ ॥

"क्या ये स्त्रियाँ यौवन को क्षणिक नहीं समझ रही हैं, जो (इस) रूप से इतनी मत्त हैं जिसे जरा नष्ट कर देगी ? ॥ ५६ ॥

नूनमेता न पश्यन्ति कस्यचिद्रोगसंप्लवम् ।
तथा हृष्टा भयं त्यक्त्वा जगति व्याधिधर्मिणि ॥ ५७ ॥

निश्चय ही ये किसी को रोग से आक्रान्त नहीं देखती हैं; (इसीलिए) व्याधि-धर्मा जगत् में भय छोड़कर ये इस प्रकार आनन्दित हैं ॥ ५७ ॥

अनभिज्ञाश्च सुव्यक्तं मृत्योः सर्वापहारिणः ।
ततः स्वस्था निरुद्विग्नाः क्रीडन्ति च हसन्ति च ॥ ५८ ॥

स्पष्ट ही सबको दूर ले जानेवाली मृत्यु से ये अनभिज्ञ हैं; इसीलिए स्वस्थ और उद्वेगरहित होकर ये खेलती व हँसती हैं ॥ ५८ ॥

जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन्सचेतनः ।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत् ॥ ५९ ॥

जरा, व्याधि व मृत्यु को जानता हुआ कौन बुद्धिमान् स्वस्थ होकर खड़ा हो या बैठे या सोये, फिर हँसे ही क्यों ? ॥ ५९ ॥

यस्तु दृष्ट्वा परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च ।
स्वस्थो भवति नोद्विग्नो यथाचेतास्तथैव सः ॥ ६० ॥

जो दूसरे को वृद्ध, रोगी व मृत देखकर स्वस्थ होता है, उद्विग्न नहीं, वह वैसा ही है जैसा कि अचेतन ॥ ६० ॥

वियुज्यमाने हि तरौ पुष्पैरपि फलैरपि ।
पतति च्छिद्यमाने वा तरुरन्यो न शोचते ॥ ६१ ॥

क्योंकि फूलों और फलों से अलग होकर जब (एक) वृक्ष गिरता है या काटा जाता है, तब दूसरा वृक्ष शोक नहीं करता है ।" ॥ ६१ ॥

५७—व्याधि-धर्मा = व्याधि जिसका धर्म अर्थात् स्वभाव है ।

इति ध्यानपरं दृष्ट्वा विषयेभ्यो गतस्पृहम्।
उदायी नीतिशास्त्रज्ञस्तमुवाच सुहृत्तया ॥ ६२ ॥

इस तरह उसे ध्यान-मग्न और विषयों से निरभिलाष देखकर नीति-शास्त्रज्ञ उदायी ने मित्रता से कहाः—॥ ६२ ॥

अहं नृपतिना दत्तः सखा तुभ्यं क्षमः किल।
यस्मात्त्वयि विवक्षा मे तया प्रणयवत्तया ॥ ६३ ॥

"मैं राजा के द्वारा नियुक्त किया गया तुम्हारा योग्य मित्र हूँ, इसलिए प्रेमपूर्वक मैं तुम्हें (कुछ) कहना चाहता हूँ ॥ ६३ ॥

अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम्।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥ ६४ ॥

अहित से रोकना, हित में लगाना और विपत्ति में नहीं छोड़ना—मित्र का (यह) त्रिविध लक्षण है ॥ ६४ ॥

सोऽहं मैत्रीं प्रतिज्ञाय पुरुषार्थात्पराङ्मुखः।
यदि त्वा समुपेक्षेय न भवेन्मित्रता मयि ॥ ६५ ॥

मैत्री की प्रतिज्ञा कर, पुरुषार्थ (=पुरुष के काम) से विमुख हो, यदि मैं तुम्हारी उपेक्षा करूँ, तो मुझ में मित्रता नहीं होगी ॥ ६५ ॥

तद्ब्रवीमि सुहृद्भूत्वा तरुणस्य वपुष्मतः।
इदं न प्रतिरूपं ते स्त्रीष्वदाक्षिण्यमीदृशम् ॥ ६६ ॥

इसलिए मित्र होकर मैं कहता हूँ कि स्त्रियों के प्रति उदारता का यह ऐसा अभाव तुझ सुन्दर तरुण के अनुरूप नहीं है ॥ ६६ ॥

अनृतेनापि नारीणां युक्तं समनुवर्तनम्।
तद्व्रीडापरिहारार्थमात्मरत्यर्थमेव च ॥ ६७ ॥

स्त्रियों के लज्जा-परित्याग तथा अपने आनन्द के लिये असत्यता से भी उनके अनुकूल आचरण करना उचित है ॥ ६७ ॥

संनतिश्चानुवृत्तिश्च स्त्रीणां हृदयबन्धनम्।
स्नेहस्य हि गुणा योनिर्मानकामाश्च योषितः ॥ ६८ ॥

नम्रता व अनुकूल आचरण स्त्रियों के हृदय के लिए बन्धन हैं; क्योंकि सद्गुण ही स्नेह का उत्पत्ति-स्थान है और स्त्रियाँ सम्मान चाहती हैं ॥ ६८ ॥

तदर्हसि विशालाक्ष हृदयेऽपि पराङ्मुखे ।
रूपस्यास्यानुरूपेण दाक्षिण्येनानुवर्तितुम् ॥ ६९ ॥

इसलिए, हे विशालाक्ष, हृदय विमुख होने पर भी अपने रूप के अनुरूप उदारता से तुम्हें उनके अनुकूल आचरण करना चाहिए ॥ ६९ ॥

दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणां दाक्षिण्यं भूषणं परम् ।
दाक्षिण्यरहितं रूपं निष्पुष्पमिव काननम् ॥ ७० ॥

उदारता स्त्रियों के लिए ओषधि है, उदारता श्रेष्ठ भूषण है; उदारता-रहित रूप पुष्प-विहीन उद्यान के समान है ॥ ७० ॥

किं वा दाक्षिण्यमात्रेण भावेनास्तु परिग्रहः ।
विषयान्दुर्लभाँल्लब्ध्वा न ह्यवज्ञातुमर्हसि ॥ ७१ ॥

केवल उदारता से क्या ? (भीतरी) भाव से ग्रहण करो । दुर्लभ विषयों को पाकर तुम्हें तिरस्कृत नहीं करना चाहिए ॥ ७१ ॥

कामं परमिति ज्ञात्वा देवोऽपि हि पुरंदरः ।
गौतमस्य मुनेः पत्नीमहल्यां चकमे पुरा ॥ ७२ ॥

प्राचीन काल में काम (प्रेम) को श्रेष्ठ जानकर, इन्द्रदेव ने गौतम मुनि की पत्नी अहल्या को चाहा ॥ ७२ ॥

अगस्त्यः प्रार्थयामास सोमभार्यां च रोहिणीम् ।
तस्मात्तत्सदृशीं लेभे लोपामुद्रामिति श्रुतिः ॥ ७३ ॥

और अगस्त ने सोम की भार्या रोहिणी के लिए प्रार्थना की । इस कारण उसने उसी (रोहिणी) के सदृश लोपामुद्रा पाई, ऐसी अनुश्रुति है ॥ ७३ ॥

उतथ्यस्य च भार्यायां ममतायां महातपः ।
मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं बृहस्पतिः ॥ ७४ ॥

और उतथ्य की भार्या, मरुत की पुत्री ममता में, महातपस्वी बृहस्पति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया ॥ ७४ ॥

बृहस्पतेर्महिष्यां च जुह्वत्यां जुह्वतां वरः ।
बुधं विबुधकर्माणं जनयामास चन्द्रमाः ॥ ७५ ॥

और हवन करनेवाली बृहस्पति की पत्नी में हवन करने वालों में श्रेष्ठ चन्द्रमा ने बुध को उत्पन्न किया, जिसके कर्म देवता के-से थे ॥ ७५ ॥

कालीं चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसंभवाम् ।
जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥ ७६ ॥

और पूर्व काल में काम (=वासना) उत्पन्न होने पर, पराशर यमुना-तट पर मछली से उत्पन्न हुई कन्या काली के पास गया ॥ ७६ ॥

मातङ्ग्यामक्षमालायां गर्हितायां रिरंसया ।
कपिञ्जलादं तनयं वसिष्ठोऽजनयन्मुनिः ॥ ७७ ॥

रमण करने की इच्छा से वशिष्ठ मुनि ने निन्दित चण्डाल जाति की (कन्या) अक्षमाला में कपिञ्जलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ७७ ॥

ययातिश्चैव राजर्षिर्वयस्यपि विनिर्गते ।
विश्वाच्याप्सरसा सार्धं रेमे चैत्ररथे वने ॥ ७८ ॥

और उम्र ढलने पर भी राजर्षि ययाति ने विश्वाची अप्सरा के साथ चैत्ररथ वन में रमण किया ॥ ७८ ॥

स्त्रीसंसर्गं विनाशान्तं पाण्डुर्ज्ञात्वापि कौरवः ।
माद्रीरूपगुणाक्षिप्तः सिषेवे कामजं सुखम् ॥ ७९ ॥

स्त्री-संसर्ग को विनाशकारी जानकर भी कुरुवंशी पाण्डु ने माद्री के रूप-गुण से आकृष्ट होकर कामज सुख का सेवन किय ॥ ७९ ॥

करालजनकश्चैव हृत्वा ब्राह्मणकन्यकाम् ।
अवाप भ्रंशमप्येवं न तु सेजे न मन्मथम् ॥ ८० ॥

और करालजनक ने ब्राह्मण-कन्या का हरण किया और इस प्रकार भ्रष्ट होकर भी वह काम में आसक्त ही रहा ॥ ८० ॥

एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितानपि ।
रतिहेतोर्बुभुजिरे प्रागेव गुणसंहितान् ॥ ८१ ॥

इस प्रकार आद्य महात्माओं ने रति (सम्भोग, आनन्द) के हेतु निन्दित विषयों का भी उपभोग किया, निर्दोष विषयों का तो पहले ही ॥ ८१ ॥

त्वं पुनर्न्यायतः प्राप्तान् बलवान् रूपवान्युवा ।
विषयानवजानासि यत्र सक्तमिदं जगत् ॥ ८२ ॥

तुम बलवान् रूपवान् युवा फिर न्याय से प्राप्त विषयों की अवहेलना करते हो, जिनमें कि यह जगत् आसक्त है ।" ॥ ८२ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य श्लक्ष्णमागमसंहितम् ।
मेघस्तनितनिर्घोषः कुमारः प्रत्यभाषत ॥ ८३ ॥

शास्त्रों से एकत्र किये गए उसके मनोहर वचन सुनकर, मेघ-गर्जन की-सी वाणी में कुमार ने उत्तर दिया:—॥ ८३ ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं सौहार्दव्यञ्जकं त्वयि ।
अत्र च त्वानुनेष्यामि यत्र मा दुष्ठु मन्यसे ॥ ८४ ॥

"यह सौहार्द-सूचक बात तुम्हारे ही योग्य है। मैं तुम से कुछ अनुनय करूँगा, जिन बातों में कि तुम मुझे बुरा मानते हो ॥ ८४ ॥

नावजानामि विषयान् जाने लोकं तदात्मकम् ।
अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः ॥ ८५ ॥

मैं विषयों की अवज्ञा नहीं करता हूँ, संसार को उनमें रत जानता हूँ। जगत् को अनित्य मानकर मेरा मन इसमें नहीं रम रहा है ॥ ८५ ॥

जरा व्याधिश्च मृत्युश्च यदि न स्यादिदं त्रयम् ।
ममापि हि मनोज्ञेषु विषयेषु रतिर्भवेत् ॥ ८६ ॥

यदि जरा व्याधि व मृत्यु, ये तीनों नहीं रहते, तो मनोज्ञ विषयों में मुझे भी आनन्द होता ॥ ८६ ॥

नित्यं यद्यपि हि स्त्रीणामेतदेव वपुर्भवेत्।
दोषवत्स्वपि कामेषु कामं रज्येत मे मनः॥ ८७॥

यदि स्त्रियों का यही रूप नित्य होता, तो इन दोषयुक्त विषयों में भी मेरा मन अवश्य लगता॥ ८७॥

यदा तु जरयापीतं रूपमासां भविष्यति।
आत्मनोऽप्यनभिप्रेतं मोहात्तत्र रतिर्भवेत्॥ ८८॥

जब इनका रूप जरा के द्वारा पिया (नष्ट किया) जायगा तब (वह रूप) अपने लिये भी घृणाजनक ही होगा, मोह से ही उसमें आनन्द हो॥ ८८॥

मृत्युव्याधिजराधर्मा मृत्युव्याधिजरात्मभिः।
रममाणो ह्यसंविग्नः समानो मृगपक्षिभिः॥ ८९॥

मृत्यु, व्याधि व जरा के अधीन रहनेवाला मनुष्य यदि मृत्यु-व्याधि-जरा के अधीन रहनेवालों के साथ रमण करता हुआ संविग्न (=विरक्त, भयभीत) न हो तो वह पशु-पक्षियों के समान है॥ ८९॥

यदप्यात्थ महात्मानस्तेऽपि कामात्मका इति।
संवेगोऽत्रैव कर्तव्यो यदा तेषामपि क्षयः॥ ९०॥

यह जो कहा कि वे महात्मा भी कामी थे, इसमें तो संवेग ही करना चाहिये कि उनका भी विनाश हुआ॥ ९०॥

माहात्म्यं न च तन्मन्ये यत्र सामान्यतः क्षयः।
विषयेपु प्रसक्तिर्वा युक्तिर्वा नात्मवत्तया॥ ९१॥

मैं उसे महात्म्य नहीं मानता हूँ जिसमें समान रूप से क्षय होता है। आत्मवान् (संयतात्मा) पुरुषों को विषयों में आसक्ति नहीं होती है और न वे विषयों के लिए युक्ति (तर्क या उपाय) ही करते हैं॥ ९१॥

यदप्यात्थानृतेनापि स्त्रीजने वर्त्यतामिति।
अनृतं नावगच्छामि दाक्षिण्येनापि किंचन॥ ९२॥

यह जो कहा कि असत्यता से भी स्त्रियों से बरतना चाहिए, मैं असत्यता नहीं समझता हूँ, (और) न उदरता से भी कुछ ॥ ९२ ॥

न चानुवर्तनं तन्मे रुचितं यत्र नार्जवम् ।
सर्वभावेन संपर्को यदि नास्ति धिगस्तु तत् ॥ ९३ ॥

वह अनुकूल आचरण मुझे नहीं रुचता है जिसमें सरलता नहीं। यदि सर्वभाव (हृदय) से सम्पर्क नहीं है, तो उसे धिक्कार है ॥९३॥

अधृतेः श्रद्दधानस्य सक्तस्यादोषदर्शिनः ।
किं हि वञ्चयितव्यं स्याज्जातरागस्य चेतसः ॥ ९४ ॥

अधीर, विश्वास करनेवाले, आसक्त, दोषों को नहीं देख सकनेवाले तथा अनुरक्त चित्त को क्या वञ्चित करना (=ठगना) चाहिए ? ॥९४॥

वञ्चयन्ति च यद्येवं जातरागाः परस्परम् ।
ननु नैव क्षमं द्रष्टुं नराः स्त्रीणां नृणां स्त्रियः ॥ ९५ ॥

यदि कामासक्त (लोग) एक दूसरे को इसी तरह वञ्चित करते हैं, तो पुरुष स्त्रियों के देखने योग्य नहीं और न स्त्रियाँ पुरुषों के ॥ ९५ ॥

तदेवं सति दुःखार्तं जरामरणभागिनम् ।
न मां कामेष्वनार्येषु प्रतारयितुमर्हसि ॥ ९६ ॥

ऐसा होने पर मुझे, जो दुःख से आर्त है और जिसके भाग्य में जरा और मरण हैं, अनार्य विषयों में लगाकर तुम्हें नहीं ठगना चाहिए ॥९६॥

अहोऽतिधीरं बलवच्च ते मनश्चलेषु कामेषु च सारदर्शिनः ।
भयेऽतितीव्रे विषयेषु सज्जसे निरीक्षमाणो मरणाध्वनि प्रजाः ॥९७॥

अहो ! तुम्हारा मन अति धीर व बलवान् है जो चञ्चल कामोपभोगों में सार देखते हो। अति तीव्र भय के रहते हुए, मृत्यु मार्ग पर प्रजाओं को देखते हुए तुम विषयों में आसक्त होते हो ॥ ९७ ॥

अहं पुनर्भीरुरतीवविक्लवो जराविपद्व्याधिभयं विचिन्तयन् ।
लभे न शान्तिं न धृतिं कुतो रतिं निशामयन्दीप्तमिवाग्निनाजगत् ॥९८॥

और मैं जरा, मृत्यु व व्याधि की चिन्ता करता हुआ भयभीत और

अति विकल हूँ। आग से मानो जलते जगत् को देखकर, न शान्ति पाता हूँ न धैर्य, आनन्द कहाँ से (पाऊँगा) ? ॥ ९८ ॥

असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते ।
अयोमयीं तस्य परैमि चेतनां महाभये रज्यति यो न रोदिति ॥ ९९ ॥

मृत्यु अवश्यंभावी है यह जानते हुए जिस मनुष्य के हृदय में काम पैदा होता है उसकी बुद्धि को लोहे की बनी समझता हूँ, क्योंकि मृत्युरूपी महाभय के रहते हुए, वह आनन्दित होता है रोता नहीं" ॥९९॥

अथो कुमारश्च विनिश्चयात्मिकां चकार कामाश्रयघातिनीं कथाम् ।
जनस्य चक्षुर्गमनीयमण्डलो महीधरं चास्तमियाय भास्करः ॥१००॥

कुमार ने वैराग्य पैदा करनेवाली (=काम-आश्रय-विनाशिनी) ये निश्चयात्मक बातें कहीं और तब संसार का नेत्रस्वरूप सूर्य, जो कि दर्शनीय हो रहा था, अस्ताचल पर गया ॥ १०० ॥

ततो वृथाधारितभूषणस्रजः कलागुणैश्च प्रणयैश्च निष्फलैः ।
स्व एव भावे विनिगृह्य मन्मथं पुरं ययुर्भग्नमनोरथाः स्त्रियः ॥१०१॥

तब वे स्त्रियाँ, जिन्होंने व्यर्थ ही आभूषण और मालाएँ पहनी थीं, उत्कृष्ट कलाओं और प्रणय-चेष्टाओं के निष्फल होनेपर अपने ही मन में कामदेव का निग्रह कर, भग्नमनोरथ हो, नगर को लौट गईं ॥ १०१ ॥

ततः पुरोद्यानगतां जनश्रियं निरीक्ष्य सायं प्रतिसंहृतां पुनः ।
अनित्यतां सर्वगतां विचिन्तयन्विवेश धिष्ण्यं क्षितिपालकात्मजः १०२

तब नगर-उद्यान की जन शोभा को फिर संध्या समय समेटी गई

१००—गमनीय मण्डल = दर्शनीय मण्डल ; दर्शनीय = सुन्दर होने के कारण देखने योग्य या तेज क्षीण होने के कारण आसानी से देखा जाने योग्य ।

१०१—भाव = उत्पत्ति-स्थान; काम का उत्पत्ति-स्थान है मन ।

देखकर, सर्वव्यापिनी अनित्यता की चिन्ता करते हुए राज-कुमार ने महल में प्रवेश किया ॥ १०२ ॥

ततः श्रुत्वा राजा विषयविमुखं तस्य तु मनो
न शिश्ये तां रात्रिं हृदयगतशल्यो गज इव ।
अथ श्रान्तो मन्त्रे बहुविविधमार्गे ससचिवो
न सोऽन्यत्कामेभ्यो नियमनपश्यत्सुतमतेः ॥ १०३ ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये स्त्रीविघातनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

तब उसका मन विषयों से विमुख हुआ सुनकर राजा उस रात को न सोया, (उस) हाथी के समान जिसकी छाती में बर्छी गड़ी हुई हो। तब सचिवों के साथ विविध उपायों की मंत्रणा करने में थक कर उसने पुत्र-बुद्धि के नियन्त्रण के लिए काम के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं देखा ॥ १०३ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "स्त्री-निवारण" नामक
चौथा सर्ग समाप्त ।

पाँचवाँ सर्ग

अभिनिष्क्रमण

स तथा विषयैर्विलोभ्यमानः परमार्हैरपि शाक्यराजसूनुः ।
न जगाम धृतिं न शर्म लेभे हृदये सिंह इवातिदिग्धविद्धः ॥ १ ॥

बहुमूल्य विषयों से उस प्रकार लुभाये जाने पर भी उस शाक्य-राज-पुत्र को (उस) सिंह के समान जिसका हृदय विष-लित तीर से अत्यन्त विद्ध हो, न धैर्य हुआ न चैन ॥ १ ॥

अथ मन्त्रिसुतैः क्षमैः कदाचित्सखिभिश्चित्रकथैः कृतानुयात्रः ।
वनभूमिदिदृक्षया शमेप्सुर्नरदेवानुमतो बहिः प्रतस्थे ॥ २ ॥

तब एक बार शान्ति-प्राप्ति के उस इच्छुक ने, राजा से अनुमति पाकर, वन-भूमि देखने के लिए बाहर प्रस्थान किया ; मन्त्रियों के पुत्र, जो उसके योग्य मित्र थे और जो चित्र-विचित्र कथाएँ जानते थे, उसके साथ गये ॥ २ ॥

नवरुक्मखलीनकिङ्किणीकं प्रचलच्चामरचारुहेमभाण्डम् ।
अभिरुह्य स कन्थकं सदश्वं प्रययौ केतुमिव द्रुमाब्जकेतुः ॥ ३ ॥

नये सोने की लगाम व घुंघुरूवाले तथा हिलते हुए चामरों से शोभित सुवर्ण-अलङ्कारोंवाले अच्छे घोड़े कन्थक पर चढ़कर, वह बाहर गया, जैसे पताकादण्ड पर कनेल फूल का चिह्न विराजमान हो ॥ ३ ॥

३—केतुपर द्रुमाब्ज केतु=पताका-दण्ड (या स्तम्भ) पर (द्रुमाब्ज= द्रुमोत्पल) कनेल फूल का चिह्न ; वास्तव में इस वाक्यांश का अर्थ स्पष्ट नहीं है ।

स विकृष्टतरां वनान्तभूमिं वनलोभाच्च ययौ महीगुणाच्च ।
सलिलोर्मिविकारसीरमार्गां वसुधां चैव ददर्श कृष्यमाणाम् ॥ ४ ॥

जंगल के लालच तथा पृथ्वी की उत्कृष्टता से आकृष्ट होकर वह अत्यन्त दूर की जंगली भूमि की ओर गया और जोती जा रही धरती को देखा, जिसपर हलों (की जुताई) के मार्ग जल-तरंगों के सामने देख पड़ते थे ॥ ४ ॥

हलभिन्नविकीर्णशष्पदर्भां हतसूक्ष्मक्रिमिकीटजन्तुकीर्णाम् ।
समवेक्ष्य रसां तथाविधां तां स्वजनस्येव वधे भृशं शुशोच ॥ ५ ॥

जिस पर हलों से कटे बाल-तृण व कुश तथा मरे हुए छोटे छोटे कीड़े-मकोड़े बिखरे हुए थे वैसी उस धरती को देखकर उसने वैसे ही शोक किया, जैसे कि स्वजन की हत्या होने पर ॥ ५ ॥

कृषतः पुरुषांश्च वीक्षमाणः पवनार्कांशुरजोविभिन्नवर्णान् ।
वहनक्लमविक्लवांश्च धुर्यान् परमार्यः परमां कृपां चकार ॥ ६ ॥

हवा, सूर्यकिरण व धूल से विवर्ण हुए कृषक पुरुषों तथा हल में बहने के श्रम से विकल हुए बैलों को देखकर उस परम आर्य (कुमार) को बड़ी करुणा हुई ॥ ६ ॥

अवतीर्य ततस्तुरङ्गपृष्ठाच्छनकैर्गां व्यचरच्छुचा परीतः ।
जगतो जननव्ययं विचिन्वन् कृपणं खल्विदमित्युवाच चार्तः ॥ ७ ॥

तब घोड़े की पीठ से उतर कर उसने पृथिवी पर शोकित हो धीरे धीरे विचरण किया और जगत् के जन्म व विनाश की छान-बीन करते हुए, आर्त होकर कहा—"यह जगत् निश्चय ही दीन है।" ॥ ७ ॥

मनसा च विविक्ततामभीप्सुः सुहृदस्ताननुयायिनो निवार्य ।
अभितश्चलचारुपर्णवत्या विजने मूलमुपेयिवान् स जम्ब्वाः ॥ ८ ॥

मानसिक पवित्रता (या एकान्त) पाने की इच्छा से उन अनुयायी मित्रों को रोककर, वह विजन भूमि में जम्बू-वृक्ष के मूल के समीप गया, जिसके सुन्दर पत्ते चारों ओर हिल रहे थे ॥ ८ ॥

निषसाद स यत्र शौचवत्यां भुवि वैडूर्यनिकाशशाद्वलायाम् ।
जगतः प्रभवव्ययौ विचिन्वन्मनसश्च स्थितिमार्गमाललम्बे ॥ ९ ॥

वह वहाँ स्वच्छ भूमि पर बैठ गया, जिसके हरे तृण वैदूर्य मणि के समान देख पड़ते थे। और, जगत् के जन्म व विनाश की खोज करते हुए उसने मानसिक स्थिरता के उपाय का अवलम्बन किया ॥ ९ ॥

समवाप्तमनःस्थितिश्च सद्यो विषयेच्छादिभिराधिभिश्च मुक्तः ।
सवितर्कविचारमाप शान्तं प्रथमं ध्यानमनास्रवप्रकारम् ॥ १० ॥

तुरंत मानसिक स्थिरता प्राप्त कर वह विषयों की इच्छा आदि (मानसिक) आधियों से मुक्त हो गया। और प्रथम शान्त ध्यान प्राप्त किया, जो वितर्क-विचारों से युक्त और आस्रवों (राग द्वेष आदि चित्त-मलों) से मुक्त था ॥ १० ॥

अधिगम्य ततो विवेकजं तु परमप्रीतिसुखं मनःसमाधिम् ।
इदमेव ततः परं प्रदध्यौ मनसा लोकगतिं निशाम्य सम्यक् ॥ ११ ॥

तब उसने विवेक से पैदा होनेवाली तथा परम प्रसन्नता व सुख से समन्वित मानसिक समाधि पाई। और तब से मन द्वारा जगत् की गति को अच्छी तरह देखते हुए इसी बात का ध्यान किया:—॥ ११ ॥

कृपणं बत यज्जनः स्वयं सन्नवशो व्याधिजराविनाशधर्मा ।
जरयार्दितमातुरं मृतं वा परमज्ञो विजुगुप्सते मदान्धः ॥ १२ ॥

"यह दीनता है कि व्याधि-जरा-मरणशील मनुष्य, स्वयं पराधीन होता हुआ, अज्ञानी व मदान्ध होकर, जरा से पीड़ित, व्याधि से ग्रस्त तथा मरे हुए दूसरे व्यक्ति की अवहेलना करता है ॥ १२ ॥

इह चेदहमीदृशः स्वयं सन्विजुगुप्सेय परं तथास्वभावम् ।
न भवेत्सदृशं हि तत्क्षमं वा परमं धर्ममिमं विजानतो मे ॥१३॥

इस संसार में मैं स्वयं ऐसा होता हुआ यदि वैसा (=व्याधि आदि) स्वभाव वाले दूसरे की अवहेलना करूँ तो इस परमधर्म को जाननेवाले इस व्यक्ति के सदृश या योग्य यह नहीं होगा।" ॥ १३ ॥

इति तस्य विपश्यतो यथावज्जगतो व्याधिजराविपत्तिदोषान् ।
बलयौवनजीवितप्रवृत्तो विजगामात्मगतो मदः क्षणेन ॥१४॥

जगत् के व्याधि-जरा मरणरूप दोषों को वह ठीक ठीक देख ही रहा था कि बल, यौवन व जीवन से होनेवाला उसका आत्मगत मद (अहङ्कार) एक ही क्षण में विलीन हो गया ॥ १४ ॥

न जहर्ष न चापि चानुतेपे विचिकित्सां न ययौ न तन्द्रिनिद्रे ।
न च कामगुणेषु संररञ्जे न विदिद्वेष परं न चावमेने ॥१५॥

उसे न हर्ष हुआ न विषाद, न संशय, न आलस्य, न नींद । और काम के आकर्षणों (=कामोपभोगों) से अनुराग नहीं हुआ, (मनमें) दूसरे से न द्वेष किया और न दूसरे की अवज्ञा ॥ १५ ॥

इति बुद्धिरियं च नीरजस्का ववृधे तस्य महात्मनो विशुद्धा ।
पुरुषैरपरैरदृश्यमानः पुरुषश्चोपससर्प भिक्षुवेषः ॥१६॥

उस महात्मा की यह निर्मल विशुद्ध बुद्धि बढ़ने लगी और दूसरे लोगों से नहीं देखा जाता हुआ एक मनुष्य संन्यासी के वेषमें उसके समीप आया ॥ १६ ॥

नरदेवसुतस्तमभ्यपृच्छद्वद कोऽसीति शशंस सोऽथ तस्मै ।
नरपुंगव जन्ममृत्युभीतः श्रमणः प्रव्रजितोऽस्मि मोक्षहेतोः ॥१७॥

राजा के पुत्र ने उसे पूछा—"कहो, कौन हो ?" तब उसने उसे कहा—"हे नर-श्रेष्ठ, श्रमण (= संन्यासी) हूँ, जन्म व मरण से डरकर मोक्ष के हेतु संन्यासी हुआ हूँ ॥ १७ ॥

जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्मृगयेऽहं शिवमक्षयं पदं तत् ।
स्वजनेऽन्यजने च तुल्यबुद्धिर्विषयेभ्यो विनिवृत्तरागदोषः ॥१८॥

क्षयशील जगत् में मैं मोक्ष चाहनेवाला अक्षय एवं कल्याणकारी पद की खोज करता हूँ । स्वजन और पराये में मेरी बुद्धि तुल्य है, विषयों से अनुराग और द्वेष, दोनों ही मुझ से चले गये हैं ॥ १८ ॥

निवसन् क्वचिदेव वृक्षमूले विजने वायतने गिरौ वने वा ।
विचराम्यपरिग्रहो निराशः परमार्थाय यथोपपन्नभैक्षः ॥१९॥

जहाँ कहीं—वृक्ष के मूल में या विजन मन्दिर में, पर्वत पर या वन में—रहता हूँ। परिवार-हीन और तृष्णा-रहित होकर, परमार्थ (= मोक्ष) के लिए विचरण करता हूँ; जो कुछ भी भिक्षा मिलती है उसे ही ग्रहण करता हूँ" ॥ १९ ॥

इति पश्यत एव राजसूनोरिदमुक्त्वा स नभः समुत्पपात ।
स हि तद्वपुरन्यबुद्धदर्शी स्मृतये तस्य समेयिवान्दिवौकाः ॥२०॥

राजकुमार के समक्ष ही इतना कह, वह आकाश में उड़ गया। वह देवता, जिसने उस शरीर से अन्य बुद्धों को देखा था, उसकी स्मृति (जगाने) के लिए आया था ॥ २० ॥

गगनं खगवद्गते च तस्मिन्नृवरः संजहृषे विसिस्मिये च ।
उपलभ्य ततश्च धर्मसंज्ञामभिनिर्याणविधौ मतिं चकार ॥२१॥

पक्षी के समान उसके आकाश में उड़ जाने पर, उस नर-श्रेष्ठ को हर्ष और विस्मय हुए। और उससे धर्म का ज्ञान पाकर उसने "(घर से) कैसे निकलूँ" इस पर विचार किया ॥ २१ ॥

तत इन्द्रसमो जितेन्द्रियाश्वः प्रविविक्षुः पुरमश्वमारुरोह ।
परिवारजनं त्ववेक्षमाणस्तत एवाभिमतं वनं न भेजे ॥२२॥

तब वह इन्द्र-तुल्य, जिसने इन्द्रिय-रूप अश्वों को जीत लिया था, नगर में प्रवेश करने की इच्छा से घोड़े पर चढ़ा। साथियों का खयाल करता हुआ वह वहाँ से इच्छित वन को नहीं चला गया ॥ २२ ॥

स जरामरणक्षयं चिकीर्षुर्वनवासाय मतिं स्मृतौ निधाय ।
प्रविवेश पुनः पुरं न कामाद्वनभूमेरिव मण्डलं द्विपेन्द्रः ॥२३॥

जरा-मरण का विनाश करने की इच्छा से वन में रहने का अपना निश्चय याद रखते हुए उसने उसी प्रकार अनिच्छा से नगर में पुनः

प्रवेश किया, जिस प्रकार, जंगल से हाथी (घरेलू हाथियों के) घेरे में (प्रवेश करे) ॥ २३ ॥

सुखिता बत निर्वृता च सा स्त्री पतिरीदृक्ष इहायताक्ष यस्याः ।
इति तं समुदीक्ष्य राजकन्या प्रविशन्तं पथि साञ्जलिर्जगाद ॥२४॥

उसे मार्ग में प्रवेश करते देखकर, (किसी) राज-कन्या ने हाथ जोड़कर कहा—"सुखी और धन्य (निर्वृत) है वह स्त्री, जिसका पति इस संसार में, हे विशालाक्ष, ऐसा है ।" ॥ २४ ॥

अथ घोषमिमं महाभ्रघोषः परिशुश्राव शमं परं च लेभे ।
श्रुतवान्स हि निर्वृतेति शब्दं परिनिर्वाणविधौ मतिं चकार ॥२५॥

तब महामेघ की-सी ध्वनिवाले ने यह शब्द सुना और परम शान्ति पाई । "धन्य" यह शब्द सुनकर, उसने "परिनिर्वाण कैसे प्राप्त करूँ" इस पर विचार किया ॥ २५ ॥

अथ काञ्चनशैलशृङ्गवर्ष्मा गजमेघर्षभबाहुनिस्वनाक्षः ।
क्षयमक्षयधर्मजातरागः शशिसिंहाननविक्रमः प्रपेदे ॥२६॥

तब सुवर्ण-गिरि-शिखर के समान (कान्तिमान्) शरीरवाला, हाथी की-सी बाहुवाला, मेघ की-सी ध्वनिवाला, वृषभ की-सी आँखोंवाला, चन्द्रमा-सा मुखवाला तथा सिंह के समान पराक्रमी कुमार, जिसे अक्षय-धर्म मे अनुराग हो गया था, महल में गया ॥ २६ ॥

मृगराजगतिस्ततोऽभ्यगच्छन्नृपतिं मन्त्रिगणैरुपास्यमानम् ।
समितौ मरुतामिव ज्वलन्तं मघवन्तं त्रिदिवे सनत्कुमारः ॥२७॥

तब सिंह-गति (कुमार) मंत्रियों से सेवित होते नृपति के समीप गया, जैसे स्वर्ग में मरुतों की सभा में प्रज्वलित होते इन्द्र के समीप सनत्कुमार (जा रहा हो) ॥ २७ ॥

प्रणिपत्य च साञ्जलिर्बभाषे दिश मह्यं नरदेव साध्वनुज्ञाम् ।
परिविव्रजिषामि मोक्षहेतोर्नियतो ह्यस्य जनस्य विप्रयोगः ॥२८॥

और हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए उसने कहा—"हे राजन्, कृपा

कर मुझे आज्ञा दीजिए। मोक्ष के हेतु मैं परिव्राजक होना चाहता हूँ; क्योंकि इस व्यक्ति का वियोग नियत है।" ॥ २८ ॥

इति तस्य वचो निशम्य राजा करिणेवाभिहतो द्रुमश्चचाल ।
कमलप्रतिमेऽञ्जलौ गृहीत्वा वचनं चेदमुवाच बाष्पकण्ठः ॥२९॥

उसका वचन सुनकर राजा वैसे ही काँपा, जैसे हाथी से आहत वृक्ष। और कमल-सदृश हाथों से उसे पकड़कर बाष्प से रुकती वाणी में यह वचन कहा:— ॥ २९ ॥

प्रतिसंहर तात बुद्धिमेतां न हि कालस्तव धर्मसंश्रयस्य ।
वयसि प्रथमे मतौ चलायां बहुदोषां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ॥३०॥

"हे तात, इस बुद्धि को रोको, धर्म की शरण (में जाने) का समय तुम्हारा नहीं है; क्योंकि प्रथम वयस में बुद्धि चञ्चल होने के कारण धर्माचरण में बहुत दोष बताते हैं ॥ ३० ॥

विषयेषु कुतूहलेन्द्रियस्य व्रतखेदेष्वसमर्थनिश्चयस्य ।
तरुणस्य मनश्चलत्यरण्यादनभिज्ञस्य विशेषतो विवेके ॥३१॥

विषयों के प्रति उत्सुक इन्द्रियवाले, व्रत के श्रम सहने में असमर्थ निश्चयवाले तरुण का मन वन से चलायमान होता है, विशेषतः जब कि वह विवेक (=एकान्त) से अनभिज्ञ रहता है ॥ ३१ ॥

मम तु प्रियधर्म धर्मकालस्त्वयि लक्ष्मीमवसृज्य लक्ष्मभूते ।
स्थिरविक्रम विक्रमेण धर्मस्तव हित्वा तु गुरुं भवेदधर्मः ॥३२॥

हे प्रियधर्म, योग्य हुए तुझ पर लक्ष्मी को छोड़कर मेरा धर्म (करने) का समय (आ गया) है। हे स्थिरपराक्रम, पराक्रम (के काम) से तुम्हें धर्म होगा, पिता को छोड़ने से तो अधर्म ही होगा ॥ ३२ ॥

तदिमं व्यवसायमुत्सृज त्वं भव तावन्निरतो गृहस्थधर्मे ।
पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः ॥३३॥

इसलिए इस निश्चय को तुम छोड़ो। तब तक के लिए गृहस्थ-धर्म में

लगो। जवानी के सुख भोगने के बाद मनुष्य का तपोवन-प्रवेश रमणीय होता है।" ॥ ३३ ॥

इति वाक्यमिदं निशम्य राज्ञः कलविङ्कस्वर उत्तरं बभाषे ।
यदि मे प्रतिभूश्चतुर्षु राजन् भवसि त्वं न तपोवनं श्रयिष्ये ॥३४॥

राजा का यह वचन सुनकर, कलविङ्क-(नामक पक्षी के) कण्ठ से उसने उत्तर दिया—"हे राजन्, यदि आप चार (बातों) में मेरा प्रतिभू होइये, तो मैं तपोवन की शरण में न जाऊँगा ॥ ३४ ॥

न भवेन्मरणाय जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः ।
न च यौवनमाक्षिपेज्जरा मे न च संपत्तिमिमां हरेद्विपत्तिः ॥३५॥

मेरा जीवन मरण के लिए न हो, और न रोग मेरे इस स्वास्थ्य का हरण करे, और न जरा मेरे यौवन को नष्ट करे, और न विपत्ति मेरी इस सम्पत्ति को हरे।" ॥ ३५ ॥

इति दुर्लभमर्थमूचिवांसं तनयं वाक्यमुवाच शाक्यराजः ।
त्यज बुद्धिमिमामतिप्रवृद्धामवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमश्च ॥३६॥

अपने पुत्र को, जिसने ये दुर्लभ बातें कहीं, शाक्य-राज ने यह वचन कहा—"इस अत्यन्त बढ़ी हुई बुद्धि को तजो, क्रम-हीन (अनुचित) मनोरथ का उपहास होता है।" ॥ ३६ ॥

अथ मेरुगुरुर्गुरुं बभाषे यदि नास्ति क्रम एष नास्मि वार्यः ।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानान्न हि निश्चिक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम् ॥३७॥

तब मेरु-सदृश गौरवपूर्ण कुमार ने पिता से कहा—"यदि यह क्रम नहीं है, तो मुझे न रोकिये; क्योंकि आग से जलते घर से निकलने की इच्छा करनेवाले को पकड़ना उचित नहीं ॥ ३७ ॥

३६—क्रम-हीनः—जवानी में अर्थ और काम का सेवन न करके धर्म अर्जन करने का मनोरथ क्रमहीन है।

जगतश्च यदा ध्रुवो वियोगो ननु धर्माय वरं स्वयंवियोगः ।
अवशं ननु विप्रयोजयेन्मामकृतस्वार्थमतृप्तमेव मृत्युः ॥३८॥

जब जगत् का वियोग ध्रुव है, तब (अपने परिवार से) धर्म के लिए स्वयं पृथक् हो जाना अवश्य श्रेष्ठ है। मृत्यु मुझ विवश को अतृप्त ही स्वार्थ (=निज लक्ष्य) – पूर्ति से पूर्व ही अवश्य अच्छी तरह पृथक् कर देगी।" ॥ ३८ ॥

इति भूमिपतिर्निशम्य तस्य व्यवसायं तनयस्य निर्मुमुक्षोः ।
अभिधाय न यास्यतीति भूयो विदधे रक्षणमुत्तमांश्च कामान् ॥३९॥

मोक्ष की इच्छा करनेवाले उस पुत्र का निश्चय सुनकर, राजा ने कहा—"न जायगा" और फिर पहरे तथा उत्तम कामोपभोगों का प्रबंध किया ॥ ३९ ॥

सचिवैस्तु निदर्शितो यथावद् बहुमानात्प्रणयाच्च शास्त्रपूर्वम् ।
गुरुणा च निवारितोऽश्रुपातैः प्रविवेशावसथं ततः स शोचन् ॥४०॥

सचिवोंद्वारा सम्मान व प्यार से शास्त्रानुसार उचित रीति से समझाये जाने और पिता के द्वारा आँसू गिराकर रोके जाने पर, उसने शोक करते हुए अपने निवास (=महल) में प्रवेश किया ॥ ४० ॥

चलकुण्डलचुम्बिताननाभिर्घननिश्वासविकम्पितस्तनीभिः ।
वनिताभिरधीरलोचनाभिर्मृगशावाभिरिवाभ्युदीक्ष्यमाणः ॥४१॥

हिलते कुण्डलों से चुम्बित मुखोंवाली, घनी साँसों से कम्पित स्तनों वाली तथा मृग-शावों के समान अधीर आँखोंवाली वनिताओं ने उसे देखा ॥ ४१ ॥

स हि काञ्चनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम् ।
श्रवणाङ्गविलोचनात्मभावान्वचनस्पर्शवपुर्गुणैर्जहार ॥४२॥

काञ्चन-पर्वत के समान कान्तिमान् वह (कुमार) उत्तम अङ्गनाओं के हृदयों के लिए उन्माद-कारी था। उसने उनके कान, अङ्ग, आँखें व मनोभाव क्रमशः अपने वचन, स्पर्श, रूप व गुणों से हर लिये ॥ ४२ ॥

विगते दिवसे ततो विमानं वपुषा सूर्य इव प्रदीप्यमानः ।
तिमिरं विजिघांसुरात्मभासा रविरुद्यन्निव मेरुमारुरोह ॥४३॥

तब दिन बीतने पर अपने शरीर से सूर्य के समान चमकता हुआ वह प्रासाद पर चढ़ा, जैसे आत्म-प्रकाशद्वारा तिमिर-नाश करने की इच्छा से उगता हुआ सूर्य मेरु-पर्वत पर (चढ़ता है) ॥ ४३ ॥

कनकोज्ज्वलदीप्तदीपवृक्षं वरकालागुरुधूपपूर्णगर्भम् ।
अधिरुह्य स वज्रभक्तिचित्रं प्रवरं काञ्चनमासनं सिषेवे ॥४४॥

जिसमें सोने से चमकती दीयट जल रही थी और जिसका भीतरी भाग उत्तम कृष्ण-अगुरु के धूप से भरा था उस (प्रासाद) पर चढ़ कर, उसने हीरे के टुकड़ों से मढ़े श्रेष्ठ सुवर्ण-आसन का सेवन किया ॥ ४४ ॥

तत उत्तममुत्तमाङ्गनास्तं निशि तूर्यैरुपतस्थुरिन्द्रकल्पम् ।
हिमवच्छिरसीव चन्द्रगौरे द्रविणेन्द्रात्मजमप्सरोगणौघाः ॥४५॥

तब उत्तम अङ्गनाओं ने इन्द्र-तुल्य उस उत्तम कुमार की रात में तूर्य बाजों से सेवा की, जैसे चन्द्र-सदृश उज्ज्वल हिमालय-शिखर पर अप्सराओं के झुण्ड कुबेर के पुत्र की (सेवा करते हैं) ॥ ४५ ॥

परमैरपि दिव्यतूर्यकल्पैः स तु तैर्नैव रतिं ययौ न हर्षम् ।
परमार्थसुखाय तस्य साधोरभिनिश्चिक्रमिषा यतो न रेमे ॥४६॥

दिव्य-तूर्य-सदृश उन उत्तम बाजों से भी उसे न प्रीति हुई, न हर्ष । परमार्थ-सुख के लिए उस साधु कुमार की अभिनिष्क्रमण करने की इच्छा थी, इसीलिए उसे प्रीति नहीं हुई ॥ ४६ ॥

अथ तत्र सुरैस्तपोवरिष्ठैरकनिष्ठैर्व्यवसायमस्य बुद्ध्वा ।
युगपत्प्रमदाजनस्य निद्रा विहितासीद्विकृताश्च गात्रचेष्टाः ॥४७॥

तब उसका निश्चय जानकर, तपस्या में श्रेष्ठ अकनिष्ठ देवों ने वहाँ एक ही बार (सब) प्रमदाओं को निद्रित और उनकी गात्र-चेष्टाओं को विकृत कर दिया ॥ ४७ ॥

अभवच्छयिता हि तत्र काचिद्विनिवेश्य प्रचले करे कपोलम् ।
दयितामपि रुक्मपत्त्रचित्रां कुपितेवाङ्कगतां विहाय वीणाम् ॥४८॥

वहाँ कोई तो, काँपते हाथ पर कपोल रखकर, सोने के पत्तों से मढ़ी प्यारी वीणा को भी मानो कुपित होकर गोद में छोड़ कर सो रही थी ॥ ४८ ॥

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपङ्क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥४९॥

दूसरी सोई हुई (स्त्री), जिसके हाथ में वंशी लगी हुई थी और जिसके स्तनों पर से श्वेत अंशुक गिरा हुआ था, (उस) नदी के समान शोभित हुई जिसके कमल भौरों की सीधी पक्ति से सेवित हों और जिसके तट जल-फेन (की धवलता) से हँस रहे हों ॥ ४९ ॥

नवपुष्करगर्भकोमलाभ्यां तपनीयोज्ज्वलसंगताङ्गदाभ्याम् ।
स्वपिति स्म तथापरा भुजाभ्यां परिरभ्य प्रियवन्मृदङ्गमेव ॥५०॥

उसी प्रकार तीसरी (स्त्री) अपनी भुजाओं से, जो नये कमल के भीतरी भाग के समान कोमल थीं और जिनके सुवर्ण-उज्ज्वल बाहु भूषण (एक दूसरे से) मिले हुए थे, मृदङ्ग को ही प्रिय की भाँति आलिङ्गन किये सो रही थी ॥ ५० ॥

नवहाटकभूषणास्तथान्या वसनं पीतमनुत्तमं वसानाः ।
अवशा घननिद्रया निपेतुर्गजभग्ना इव कर्णिकारशाखाः ॥५१॥

उसी प्रकार नव-सुवर्ण-भूषणवाली अन्य स्त्रियाँ, जो उत्तम पीत वसन पहने हुई थीं, गाढ़ी नींद से विवश होकर गिरीं, जैसे हाथीद्वारा तोड़ी गई कीर्णकार की डालें (गिरती हैं) ॥ ५१ ॥

४९—कमल है हाथ, भौंरा है वंशी, तट हैं स्तन और फेन है अंशुक ।

अवलम्ब्य गवाक्षपार्श्वमन्या शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः ।
विरराज विलम्बिचारुहारा रचिता तोरणशालभञ्जिकेव ॥५२॥

खिड़की की बगल के सहारे सोई हुई दूसरी स्त्री जिसकी देह धनुष के समान झुकी हुई थी और जिसके सुन्दर हार लटक रहे थे, इस प्रकार विराजी जैसे तोरण पर बनी कठपुतली हो ॥ ५२ ॥

मणिकुण्डलदष्टपत्रलेखं मुखपद्मं विनतं तथापरस्याः ।
शतपत्रमिवार्धवक्रनाडं स्थितकारण्डवघट्टितं चकाशे ॥५३॥

उसी प्रकार दूसरी का झुका हुआ मुख-पद्म, जिसके पत्र लेख (=कपोल आदि पर बने चित्र) को रत्न-कुंडल मिटा रहे थे, (उस) कमल के समान शोभित हुआ जिसका नाल आधा झुका हो और जो कारण्डव पक्षी के बैठने से हिल रहा हो ॥ ५३ ॥

अपराः शयिता यथोपविष्टाः स्तनभारैरवनम्यमानगात्राः ।
उपगुह्य परस्परं विरेजुर्भुजपाशैस्तपनीयपारिहार्यैः ॥५४॥

दूसरी बैठी बैठी ही सो गईं, उनके गात्र स्तनों के भार से झुके हुए थे । वे सुवर्ण-बलय-युक्त बाहु-लताओं से एक दूसरे का आलिङ्गन किये शोभ रहीं थीं ।' ५४ ॥

महतीं परिवादिनीं च काचिद्वनितालिङ्ग्य सखीमिव प्रसुप्ता ।
विजुघूर्ण चलत्सुवर्णसूत्रा वदनेनाकुलयोक्त्रकेण ॥५५॥

और कोई वनिता एक बड़ी सात तार वाली वीणा का सखी के समान आलिङ्गन कर सोई हुई थी । हिलते सुवर्ण-सूत्रों वाली वह स्त्री अस्त-व्यस्त योक्त्र (=सूत्र, नथ ?) वाले मुख से घूम (=चक्कर खा) रही थी ॥ ५५ ॥

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादवविस्रंसितचारुपाशमन्या ।
सविलासरतान्ततान्तमूर्वोर्विवरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये ॥५६॥

दूसरी युवती पणव (बाजे) को, जिसकी सुन्दर डोरी काँख से

गिर गई थी, सविलास सम्भोग के अन्त में थके प्रियतम के समान, दोनों जाँघों के बीच लाकर सोई ।। ५६ ।।

अपरा बभुर्निमीलिताक्ष्यो विपुलाक्ष्योऽपि शुभभ्रुवोऽपि सत्यः ।
प्रतिसंकुचितारविन्दकोशाः सवितर्यस्तमिते यथा नलिन्यः ।।५७।।

सुन्दर भौहोंवाली व बड़ी बड़ी आँखोंवाली होने पर भी दूसरी (स्त्रियों) की आँखें बन्द हो गईं, जैसे सूर्यास्त होने पर कमलिनियों के कमल-कोश बन्द हो जाते हैं ।। ५७ ।।

शिथिलाकुलमूर्धजा तथान्या जघनस्रस्तविभूषणांशुकान्ता ।
अशयिष्ट विकीर्णकण्ठसूत्रा गजभग्ना प्रतियातनाङ्गनेव ।।५८।।

उसी प्रकार दूसरी (स्त्रियाँ), जिनके केश शिथिल व अस्त-व्यस्त थे, और जाँघों से जिनके गहने व कपड़े के छोर गिर गये थे, और जिनके कंठ-सूत्र बिखरे हुए थे, इस तरह (बेहोश होकर) सोईं, जैसे हाथी-द्वारा तोड़ी गई स्त्री की प्रतिमा (पड़ी हो) ।। ५८ ।।

अपरास्त्ववशा ह्रिया वियुक्ता धृतिमत्योऽपि वपुर्गुणैरुपेताः ।
विनिशश्वसुरुल्बणं शयाना विकृताः क्षिप्तभुजा जजृम्भिरे च ।।५९।।

दूसरी (स्त्रियाँ) अत्यन्त रूपवती तथा धीर होने पर भी विवशता के कारण लाज-रहित हो असभ्य ढग से सोती हुई, जोरों से साँसें छोड़ रही थीं; वे विकृत थीं, भुजाएँ फेंक रही थीं, और जँभाई ले रही थीं ।।५९।।

व्यपविद्धविभूषणस्रजोऽन्या विसृताग्रन्थनवाससो विसंज्ञाः ।
अनिमीलितशुक्लनिश्चलाक्ष्यो न विरेजुः शयिता गतासुकल्पाः ।।६०।।

दूसरी, जिनके गहने व मालाएँ अलग फेंकी हुई थीं और जिनके वस्त्रों की ग्रन्थियाँ खुली हुई थीं, बेहोश पड़ी थीं । उनकी निश्चल आँखों की सफेदी दिखाई पड़ती थी । मुर्दों के समान सोई हुई वे शोभित नहीं हुईं ।। ६० ।।

विवृतास्यपुटा विवृद्धगात्री प्रपतद्वक्त्रजला प्रकाशगुह्या ।
अपरा मदघूर्णितेव शिश्ये न बभासे विकृतं वपुः पुपोष ।।६१।।

दूसरी मद-माती की भाँति सोई। उसका मुख-पुट खुला था, गात्र फैले हुए थे, (अतः क्रमशः) उसके मुख से जल गिर रहा था और गुह्य भाग प्रकाशित हो रहे थे। वह शोभित नहीं हुई। उसने विकृत रूप धारण किया ॥ ६१ ॥

इति सत्त्वकुलान्वयानुरूपं विविधं स प्रमदाजनः शयानः ।
सरसः सदृशं बभार रूपं पवनावर्जितरुग्नपुष्करस्य ॥६२॥

स्वभाव, कुल, एवं अन्वय के अनुसार भाँति भाँति से सोते हुए उस प्रमदा-वृन्द ने उस सरोवर के सदृश रूप धारण किया, जिसके कमल हवा में झुकाये गये और टेढ़े किये गये हों ॥ ६२ ॥

समवेक्ष्य तथा तथा शयाना विकृतास्ता युवतीरधीरचेष्टाः ।
गुणवद्वपुषोऽपि वल्गुभाषा नृपसूनुः स विगर्हयांबभूव ॥६३॥

उस उस प्रकार से सोती हुई चंचल चेष्टाओंवाली युवतियों को, यद्यपि उनके शरीर रूपवान् और वचन मनोहर थे, वीभत्स देखकर, उस राजकुमार ने यों निन्दा की:— ॥ ६३ ॥

अशुचिर्विकृतश्च जीवलोके वनितानामयमीदृशः स्वभावः ।
वसनाभरणैस्तु वञ्च्यमानः पुरुषः स्त्रीविषयेषु रागमेति ॥६४॥

"जीव-लोक में वनिताओं का यह ऐसा स्वभाव वीभत्स और अपवित्र है; किंतु वस्त्रों और आभूषणों से ठगा जाता पुरुष स्त्रियों से अनुराग करता है ॥ ६४ ॥

विमृशेद्यदि योषितां मनुष्यः प्रकृतिं स्वप्नविकारमीदृशं च ।
ध्रुवमत्र न वर्धयेत्प्रमादं गुणसंकल्पहतस्तु रागमेति ॥६५॥

यदि मनुष्य स्त्रियों के स्वभाव तथा स्वप्नावस्था के ऐसे विकार का विचार करे, तो अवश्य ही उसमें वह अपनी असावधानी न बढ़ावे; किंतु, स्त्री में गुण हैं, इस विचार से अभिभूत होकर वह उससे अनुराग करता है।" ॥ ६५ ॥

इति तस्य तदन्तरं विदित्वा निशि निश्चिक्रमिषा समुद्बभूव ।
अवगम्य मनस्ततोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं बभूव ॥६६॥

यह अन्तर जानकर रात को निष्क्रमण करने की उसकी इच्छा हुई। तब उसका मन जानकर देवोंद्वारा गृह द्वार खोल दिया गया ॥ ६६ ॥

अथ सोऽवततार हर्म्यपृष्ठाद्युवतीस्ताः शयिता विगर्हमाणः ।
अवतीर्य ततश्च निर्विशङ्को गृहकक्ष्यां प्रथमां विनिर्जगाम ॥६७॥

तब सोई हुई उन युवतियों की निन्दा करता हुआ वह प्रासाद पर से उतरा। और वहाँ से उतर कर, निश्शङ्क हो घर की पहली कक्ष्या (आंगन) में गया ॥ ६७ ॥

तुरगावचरं स बोधयित्वा जविनं छन्दकमित्थमित्युवाच ।
हयमानय कन्थकं त्वरावानमृतं प्राप्तुमितोऽद्य मे यियासा ॥६८॥

वेगवान् छन्दक नामक अश्वरक्षक को जगाकर, उसने इस प्रकार कहा:—"शीघ्रता से कन्थक घोड़े को लाओ, आज यहाँ से अमरत्व प्राप्त करने के लिए मेरी जाने की इच्छा है ॥ ६८ ॥

हृदि या मम तुष्टिरद्य जाता व्यवसायश्च यथा मतौ निविष्टः ।
विजनेऽपि च नाथवानिवास्मि ध्रुवमर्थोऽभिमुखः समेत इष्टः ॥ ६९ ॥

आज मेरे हृदय में जो संतोष हुआ है, और बुद्धि जिस प्रकार निश्चयात्मक हुई है, और विजन में भी जिस प्रकार नाथवान् के समान् हूँ, निश्चय ही इष्ट लक्ष्य सामने आ गया है ॥ ६९ ॥

ह्रियमेत्र च संनतिं च हित्वा शयिता मत्प्रमुखे यथा युवत्यः ।
विवृते च यथा स्वयं कपाटे नियतं यातुमतो ममाद्य कालः ॥ ७० ॥

लाज व विनय को छोड़कर युवतियाँ जिस प्रकार मेरे सामने सोई हुई हैं, और किवाड़ जिस प्रकार स्वयं खुल गये हैं, निश्चय ही आज यहाँ से जाने का मेरा समय है।" ॥ ७० ॥

प्रतिगृह्य ततः स भर्तुराज्ञां विदितार्थोऽपि नरेन्द्रशासनस्य ।
मनसीव परेण चोद्यमानस्तुरगस्यानयने मतिं चकार ॥ ७१ ॥

तब राजा के आदेश का अर्थ जानते हुए भी उसने स्वामी की आज्ञा मान ली। और मन में मानो दूसरे से प्रेरित होते हुए उसने घोड़ा लाने का विचार किया ॥ ७१ ॥

अथ हेमखलीनपूर्णवक्त्रं लघुशय्यास्तरणोपगूढपृष्ठम् ।
बलसत्त्वजवान्वयोपपन्नं स वराश्वं तमुपानिनाय भर्त्रे ॥ ७२ ॥

तब स्वामी के लिए वह उस श्रेष्ठ घोड़े को ले आया, जिसका मुँह सोने की लगाम से भरा था, जिसकी पीठ हलकी पलान व झूल से आलिङ्गित (= ढकी) थी, जो बल, सत्व, वेग व वंश से युक्त था, ॥७२॥

प्रततत्रिकपुच्छमूलपार्ष्णिं निभृतह्रस्वतनूजपुच्छकर्णम् ।
विनतोन्नतपृष्ठकुक्षिपार्श्वं विपुलप्रोथललाटकट्युरस्कम् ॥ ७३ ॥

जिसके त्रिक (= रीढ़ का निचला भाग), पुच्छ-मूल व पार्ष्णि (एँड़ी, पाँव का पिछला भाग) विस्तीर्ण थे, जिसके बाल पुच्छ व कान छोटे तथा निश्चल थे, जिसकी पीठ व बगल दबे हुए और उठे हुए थे, जिसकी नाक, ललाट, कमर, व छाती विशाल थी ॥ ७३ ॥

उपगुह्य स तं विशालवक्षाः कमलाभेन च सान्त्वयन् करेण ।
मधुराक्षरया गिरा शशास ध्वजिनीमध्यमिव प्रवेष्टुकामः ॥ ७४ ॥

उस विशाल वक्षःस्थलवाले ने कमल के समान कान्तिमान् हाथ से उसे छूकर सान्त्वना देते हुए मधुर अक्षरों भरी वाणी में ऐसे आदेश दिया, जैसे वह (विपक्षी) सेना के बीच प्रवेश करने की इच्छा (तैयारी) कर रहा हो:—॥ ७४ ॥

बहुशः किल शत्रवो निरस्ताः समरे त्वामधिरुह्य पार्थिवेन ।
अहमप्यमृतं पदं यथावत्तुरगश्रेष्ठ लभेय तत्कुरुष्व ॥ ७५ ॥

"तुझ पर चढ़कर राजा ने युद्ध में शत्रुओं को अनेक बार परास्त किया। हे तुरग-श्रेष्ठ, मैं भी उस अमर पद को जिस प्रकार पाऊँ वैसा करो ॥ ७५ ॥

सुलभाः खलु संयुगे सहाया विषयावाप्तसुखे धनार्जने वा ।
पुरुषस्य तु दुर्लभाः सहायाः पतितस्यापदि धर्मसंश्रये वा ॥ ७६ ॥

युद्ध में, विषयों से प्राप्त होनेवाले सुख में, या धन-अर्जन में साथी सुलभ होते हैं ; किंतु आपत्ति में पड़ने पर या धर्म का आश्रय लेने में पुरुष के साथी दुर्लभ हैं ॥ ७६ ॥

इह चैव भवन्ति ये सहायाः कलुषे कर्मणि धर्मसंश्रये वा ।
अवगच्छति मे यथान्तरात्मा नियतं तेऽपि जनास्तदंशभाजः ॥ ७७ ॥

और इस संसार में पाप-कर्म में या धर्म का आश्रय लेने में जो साथी होते हैं, मेरी अन्तरात्मा जैसा समझती है, अवश्य ही वे लोग भी उस कर्म फल के हिस्सेदार होते हैं ॥ ७७ ॥

तदिदं परिगम्य धर्मयुक्तं मम निर्याणमितो जगद्धिताय ।
तुरगोत्तम वेगविक्रमाभ्यां प्रयतस्वात्महिते जगद्धिते च ॥ ७८ ॥

तब यहाँ से जगत् के हित के लिए मेरे इस निष्क्रमण को धर्म-युक्त जानकर, हे तुरग-श्रेष्ठ, आत्म-हित व जगत हित के लिए वेग और पराक्रमपूर्वक प्रयत्न करो ।" ॥ ७८ ॥

इति सुहृदमिवानुशिष्य कृत्ये तुरगवरं नृवरो वनं यियासुः ।
सितमसितगतिद्युतिर्वपुष्मान रविरिव शारदमभ्रमारुरोह ॥ ७९ ॥

वन जाने के इच्छुक उस नर-श्रेष्ठ ने उस उत्तम घोड़े को कर्तव्य करने के लिए ऐसे आदेश दिया, जैसे कि वह उसका मित्र हो; अग्नि के समान कान्तिमान् वह रूपवान् राजकुमार उजले घोड़े पर इस प्रकार चढ़ा, जैसे शरत्कालीन मेघ पर सूर्य ॥ ७९ ॥

अथ स परिहरन्निशीथचण्डं परिजनबोधकरं ध्वनिं सदश्वः ।
विगतहनुरवः प्रशान्तहेषश्चकितविमुक्तपदक्रमो जगाम ॥ ८० ॥

तब वह अच्छा घोड़ा रात्रिकाल की प्रचण्ड तथा परिजनों को जगाने वाली ध्वनि को रोकता हुआ चला; उसके जबड़े निश्शब्द थे, उसकी हिनहिनाहट शान्त थी, और उसके पग निर्भय थे ॥ ८० ॥

कनकवलयभूषितप्रकोष्ठैः कमलनिभैः कमलानिव प्रविध्य ।
अवनततनवस्ततोऽस्य यक्षाश्चकितगतैर्दधिरे खुरान् कराग्रैः ॥८१॥

देह झुकाकर यक्षों ने अपने हाथों के अग्रभागों से इसके खुर पकड़ लिये; और कमल-सदृश हाथों से, जिनके प्रकोष्ठ सुवर्ण-कङ्कणों से भूषित थे, वे मानो कमल बिखेर रहे थे ॥ ८१ ॥

गुरुपरिघकपाटसंवृता या न सुखमपि द्विरदैरपाव्रियन्ते ।
व्रजति नृपसुते गतस्वनास्ताः स्वयमभवन्विवृताः पुरः प्रतोल्यः ॥८२॥

फाटक के भारी किवाड़ों से बन्द जो नगर द्वार हाथियों से भी सुखपूर्वक नहीं खुलते थे, वे राजा के पुत्र के जाने पर स्वयं निश्शब्द खुल गये ॥ ८२ ॥

पितरमभिमुखं सुतं च बालं जनमनुरक्तमनुत्तमां च लक्ष्मीम् ।
कृतमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः पितृनगरात्स ततो विनिर्जगाम ॥८३॥

तब वह कृत-निश्चय निरपेक्ष होकर स्नेही पिता को, बालपुत्र को, अनुरक्त लोगों को, और अनुपम लक्ष्मी को छोड़कर, पितृ-नगर से निकल गया ॥ ८३ ॥

अथ स विमलपङ्कजायताक्षः पुरमवलोक्य ननाद सिंहनादम् ।
जननमरणयोरदृष्टपारो न पुरमहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ॥८४॥

तब विमल कमलों के समान विशाल आँखोंवाले उस कुमार ने नगर को देख कर सिंहनाद किया:—"जन्म व मृत्यु का पार देखे बिना कपिल नाम के इस नगर में फिर प्रवेश नहीं करूँगा।" ॥ ८४ ॥

इति वचनमिदं निशम्य तस्य द्रविणपतेः परिषद्गणा ननन्दुः ।
प्रमुदितमनसश्च देवसङ्घा व्यवसितपारणमाशशंसिरेऽस्मै ॥८५॥

उसका यह वचन सुनकर, द्रविण-पति की परिषद् के गण आनन्दित हुए; और प्रसन्नचित्त देव-सङ्घों ने उसकी निश्चय-पूर्ति की इच्छा की ॥

हुतवहवपुषो दिवौकसोऽन्ये व्यवसितमस्य सुदुष्करं विदित्वा ।
अकृपत तुहिने पथि प्रकाशं घनविवरप्रसृता इवेन्दुपादाः ॥८६॥

उसके अति दुष्कर निश्चय को जानकर अग्नि के समान रूपवान् अन्य देवों ने, जैसे बादलों के बीच से फैली चन्द्र-किरणों ने, उसके बर्फीले रास्ते में प्रकाश किया ॥ ८६ ॥

हरितुरगतुरङ्गवत्तुरङ्गः स तु विचरन्मनसीव चोद्यमानः ।
अरुणपरुषतारमन्तरिक्षं स च सुबहूनि जगाम योजनानि ॥८७॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽभिनिष्क्रमणो नाम पञ्चमः सर्गः ।

सूर्य के घोड़े के समान वह घोड़ा, जो मानो मन में प्रेरित होता हुआ चल रहा था, और वह कुमार, उषा के आगमन से आसमान के तारों के फीके होने से पहले ही बहुत योजन चले गये ॥ ८७ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "अभिनिष्क्रमण" नामक
पाँचवाँ सर्ग समाप्त ।

छठा सर्ग

छन्दक-विसर्जन

ततो मुहूर्ताभ्युदिते जगच्चक्षुषि भास्करे।
भार्गवस्याश्रमपदं स ददर्श नृणां वरः ॥ १ ॥

तब एक मुहूर्त में जगत्-चक्षु सूर्य के उगने पर उस नर-श्रेष्ठ ने भार्गव का आश्रम देखा, ॥ १ ॥

सुप्तविश्वस्तहरिणं स्वस्थस्थितविहङ्गमम्।
विश्रान्त इव यद्दृष्ट्वा कृतार्थ इव चाभवत् ॥ २ ॥

जहाँ विश्वस्त होकर हरिण सोये हुए थे और स्वस्थ होकर पक्षी बैठे हुए थे, जिस (आश्रम) को देखकर उसकी थकावट मानो चली गई और वह मानो कृतार्थ हुआ ॥ २ ॥

स विस्मयनिवृत्त्यर्थं तपःपूजार्थमेव च।
स्वां चानुवर्तितां रक्षन्नश्वपृष्ठादवातरत् ॥ ३ ॥

औद्धत्य छोड़ने के लिए और तपस्या के सन्मान के लिए अपने आचरण की रक्षा करता हुआ वह घोड़े की पीठ से उतर गया ॥ ३ ॥

अवतीर्य च पस्पर्श निस्तीर्णमिति वाजिनम्।
छन्दकं चाब्रवीत्प्रीतः स्नापयन्निव चक्षुषा ॥ ४ ॥

और उतर कर "पार लगाया" यह कहते हुए घोड़े को स्पर्श किया। और प्रसन्न होकर छन्दक को आँखों से नहवाते हुए कहाः—॥ ४ ॥

इमं तार्क्ष्योपमजवं तुरङ्गमनुगच्छता।
दर्शिता सौम्य मद्भक्तिर्विक्रमश्चायमात्मनः ॥ ५ ॥

"गरुड़ के समान वेगवान् इस घोड़े का अनुसरण करते हुए, हे सौम्य, तुमने मेरे प्रति भक्ति और अपना पराक्रम दिखाये ॥ ५ ॥

सर्वथास्म्यन्यकार्योऽपि गृहीतो भवता हृदि ।
भर्तृस्नेहश्च यस्यायमीदृशः शक्तिरेव च ॥ ६ ॥

सब प्रकार से अन्य कार्यों में लगा (अन्य मनस्क) रहने पर भी मैं तुम्हारे द्वारा, जिसका यह स्वामि-स्नेह है और जिसकी ऐसी भक्ति है, हृदय में धारण किया गया ॥ ६ ॥

अस्निग्धोऽपि समर्थोऽस्ति निःसामर्थ्योऽपि भक्तिमान् ।
भक्तिमांश्चैव शक्तश्च दुर्लभस्त्वद्विधो भुवि ॥ ७ ॥

स्नेह-हीन होने पर भी आदमी समर्थ होता है ; सामर्थ्य-हीन होने पर भी भक्तिमान् होता है । तुम्हारे-जैसा भक्तिमान् और शक्तिमान् पुरुष पृथिवी पर दुर्लभ है ॥ ७ ॥

तत्प्रीतोऽस्मि तवानेन महाभागेन कर्मणा ।
यस्य ते मयि भावोऽयं फलेभ्योऽपि पराङ्मुखः ॥ ८ ॥

इसलिए तुम्हारे, जिसका फल से भी विमुख यह भाव मेरे प्रति है, इस उत्तम कर्म से प्रसन्न हूँ ॥ ८ ॥

को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखो जनः ।
जनीभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये ॥ ९ ॥

फल में स्थित (=फल देनेवाले व्यक्ति) के अनुकूल कौन नहीं होगा ? विपरीत में (अर्थात् फल मिलने की आशा नहीं रहने पर) स्वजन भी प्रायः पराया हो जाता है ॥ ९ ॥

कुलार्थं धार्यते पुत्रः पोषार्थं सेव्यते पिता ।
आशयाच्छ्लिष्यति जगन्नास्ति निष्कारणा स्वता ॥१०॥

कुल के लिए पुत्र धारण किया जाता है और पोषण के लिए पिता की सेवा की जाती है । आशय से ही जगत् मेल करता है, बिना कारण के अपनापन नहीं होता है ॥ १० ॥

किमुक्त्वा बहु संक्षेपात्कृतं मे सुमहत्प्रियम् ।
निवर्तस्वाश्वमादाय संप्राप्तोऽस्मीप्सितं पदम् ॥११॥

बहुत कहने से क्या ? संक्षेप में, तुमने मेरा बड़ा प्रिय किया। घोड़े को लेकर लौट जाओ। मैं इच्छित स्थान को पहुँच गया हूँ।" ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा स महाबाहुरनुशंसचिकीर्षया ।
भूषणान्यवमुच्यास्मै संतप्तमनसे ददौ ॥१२॥

इतना कहकर प्रिय (उपकार) करने की इच्छा से, उस महाबाहु ने अपने आभूषण खोलकर उस संतप्त-चित्त को दिये ॥ १२ ॥

मुकुटाद्दीपकर्माणं मणिमादाय भास्वरम् ।
ब्रुवन्वाक्यमिदं तस्थौ सादित्य इव मन्दरः ॥१३॥

दीप का काम करनेवाली चमकीली मणि को मुकुट से लेकर, मन्दराचल के समान जिसके ऊपर सूर्य स्थित हो, शोभित होते हुए, उसने ये वचन कहे:—॥ १३ ॥

अनेन मणिना छन्द प्रणम्य बहुशो नृपः ।
विज्ञाप्योऽमुक्तविश्रम्भं संतापविनिवृत्तये ॥१४॥

"इस मणि से, हे छन्दक, राजा को बार बार प्रणाम कर उनका संताप दूर करने के लिए विश्वासपूर्वक (यह संदेश) निवेदन करना:—॥ १४ ॥

जरामरणनाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम् ।
न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना ॥१५॥

जरा और मरण का विनाश करने के लिए मैंने तपोवन में प्रवेश किया है, अवश्य ही स्वर्ग की तृष्णा से नहीं, स्नेह के अभाव से नहीं, क्रोध से नहीं ॥ १५ ॥

तदेवमभिनिष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।
भूत्वापि हि चिरं श्लेषः कालेन न भविष्यति ॥१६॥

अतः इस तरह मुझ निकले हुए के लिए आपको शोक नहीं करना

चाहिए; क्योंकि संयोग (=मिलन) चिरकाल तक होकर भी समय पाकर नहीं रहेगा ॥ १६ ॥

ध्रुवो यस्माच्च विश्लेषस्तस्मान्मोक्षाय मे मतिः ।
विप्रयोगः कथं न स्याद्भूयोऽपि स्वजनादिति ॥१७॥

और क्योंकि वियोग निश्चित है, इसलिए मोक्ष (पाने) के लिए मेरा विचार है, जिसमें फिर भी स्वजन से वियोग न हो ॥ १७ ॥

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।
शोकहेतुषु कामेषु सक्ताः शोच्यास्तु रागिणः ॥१८॥

शोक-त्याग के लिए मुझ निकले हुए के लिए आपको शोक नहीं करना चाहिए। शोक के हेतु-स्वरूप काम-भोगों में आसक्त रागी व्यक्तियों के लिए शोक करना चाहिए ॥ १८ ॥

अयं च किल पूर्वेषामस्माकं निश्चयः स्थिरः ।
इति दायाद्यभूतेन न शोच्योऽस्मि पथा व्रजन् ॥१९॥

और यह तो हमारे पूर्व पुरुषों का दृढ़ निश्चय था; (इस) पैतृक (=पूर्वजों के) मार्ग पर चल रहा हूँ, अतः मेरे लिए शोक नहीं किया जाना चाहिए ॥ १९ ॥

भवन्ति ह्यर्थदायादाः पुरुषस्य विपर्यये ।
पृथिव्यां धर्मदायादाः दुर्लभास्तु न सन्ति वा ॥२०॥

उलट-पुलट (=मृत्यु) होने पर पुरुष के धन के दायाद होते हैं; किंतु पृथिवी पर धर्म के दायाद दुर्लभ हैं या हैं ही नहीं ॥ २० ॥

यदपि स्यादसमये यातो वनमसाविति ।
अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति ॥२१॥

यह कि वह (कुमार) असमय में वन गया, तो (मैं कहूँगा कि) जीवन चञ्चल होने के कारण धर्म के लिए असमय नहीं है ॥ २१ ॥

तस्मादद्यैव मे श्रेयश्चेतव्यमिति निश्चयः ।
जीविते को हि विश्रम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते ॥२२॥

इसलिए कल्याण का चयन मैं आज ही करूँगा, यही निश्चय है; क्योंकि मृत्युरूप शत्रु के रहने पर जीवन में क्या विश्वास ? ॥ २२ ॥

एवमादि त्वया सौम्य विज्ञाप्यो वसुधाधिपः ।
प्रयतेथास्तथा चैव यथा मां न स्मरेदपि ॥२३॥

इस प्रकार, हे सौम्य, तुम्हें राजा से निवेदन करना चाहिए और वैसा ही प्रयत्न करो जिससे वह मुझे स्मरण भी न करें ॥ २३ ॥

अपि नैर्गुण्यमस्माकं वाच्यं नरपतौ त्वया ।
नैर्गुण्यात्त्यज्यते स्नेहः स्नेहत्यागान्न शोच्यते ॥२४॥

तुम्हें नरपति से हमारी निर्गुणता (=दोष) भी कहना चाहिए। निर्गुणता के कारण स्नेह छोड़ते हैं, स्नेह छोड़ने से शोक नहीं होता है।" ॥ २४ ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा छन्दः संतापविक्लवः ।
बाष्पग्रथितया वाचा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥२५॥

यह वाक्य सुनकर सन्ताप से विकल छन्दक ने हाथ जोड़कर वाष्प-ग्रथित वाणी में उत्तर दिया:—॥ २५ ॥

अनेन तव भावेन बान्धवायासदायिना ।
भर्तः सीदति मे चेतो नदीपङ्क इव द्विपः ॥२६॥

"बान्धवों को कष्ट देनेवाले आपके इस भाव से, हे स्वामिन्, मेरा चित्त नदी-पङ्क में (फँसे) हाथी के समान दुःख रहा है ॥ २६ ॥

कस्य नोत्पादयेद्बाष्पं निश्चयस्तेऽयमीदृशः ।
अयोमयेऽपि हृदये किं पुनः स्नेहविक्लवे ॥२७॥

आपका यह ऐसा निश्चय किसके लोहे से भी बने हृदय में वाष्प नहीं पैदा करेगा, फिर स्नेह-विकल (हृदय) का क्या कहना ? ॥ २७ ॥

विमानशयनार्हं हि सौकुमार्यमिदं क्व च ।
खरदर्भाङ्कुरवती तपोवनमही क्व च ॥२८॥

कहाँ प्रासाद की शय्या के योग्य यह सुकुमारता और कहाँ तीक्ष्ण तृण-अङ्कुरों से युक्त तपोवन की भूमि ! ॥ २८ ॥

श्रुत्वा तु व्यवसायं ते यदश्वोऽयं मयाहृतः ।
बलात्कारेण तन्नाथ दैवेनैवास्मि कारितः ॥२९॥

आपका निश्चय सुनकर मैं घोड़ा जो ले आया, हे नाथ, वह तो दैव ने मुझसे बलात् कराया ॥ २९ ॥

कथं ह्यात्मवशो जानन् व्यवसायमिमं तव ।
उपानयेयं तुरगं शोकं कपिलवास्तुनः ॥३०॥

अपने वश में रह कर, आपका यह निश्चय जानता हुआ मैं कपिलवस्तु का शोक—(यह) घोड़ा—(आपके समीप) कैसे लाता ? ॥ ३० ॥

तन्नार्हसि महाबाहो विहातुं पुत्रलालसम् ।
स्निग्धं वृद्धं च राजानं सद्धर्ममिव नास्तिकः ॥३१॥

इसलिए, हे महाबाहो, पुत्र के लिए उत्सुक स्नेही और वृद्ध राजा को, जैसे सद्धर्म को नास्तिक (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥ ३१ ॥

संवर्धनपरिश्रान्तां द्वितीयां तां च मातरम् ।
देवीं नार्हसि विस्मर्तुं कृतघ्न इव सत्क्रियाम् ॥३२॥

और पालन-पोषण करने में थकी उस दूसरी माता रानी को, जैसे सत्क्रिया को कृतघ्न (भूलता है), आपको न भूलना चाहिए ॥ ३२ ॥

बालपुत्रां गुणवतीं कुलश्लाघ्यां पतिव्रताम् ।
देवीमर्हसि न त्यक्तुं क्लीबः प्राप्तामिव श्रियम् ॥३३॥

बाल-पुत्रवाली, गुणवती, तथा श्लाघ्य कुलवाली पतिव्रता देवी (=पत्नी) को, जैसे क्लीव आई हुई लक्ष्मी को (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥ ३३ ॥

पुत्रं याशोधरं श्लाघ्यं यशोधर्मभृतां वरम् ।
बालमर्हसि न त्यक्तुं व्यसनीवोत्तमं यशः ॥३४॥

यशोधरा के बालपुत्र को, जो प्रशंसा के योग्य है और जो यश एवं धर्म धारण करनेवालों में श्रेष्ठ है, जैसे उत्तम यश को व्यसनी (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥ ३४ ॥

अथ बन्धुं च राज्यं च त्यक्तुमेव कृता मतिः ।
मां नार्हसि विभो त्यक्तुं त्वत्पादौ हि गतिर्मम ॥३५॥

अथवा यदि बन्धु एवं राज्य को छोड़ने का ही विचार है, तो हे विभो, आपको मुझे न छोड़ना चाहिए ; क्योंकि मेरी गति तो आपके ही चरणों में है ॥ ३५ ॥

नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा ।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ॥३६॥

आपको जंगल में, जैसे सुमन्त्र ने राघव को (छोड़ा था), छोड़कर जलते चित्त से मैं नगर को नहीं जा सकता हूँ ॥ ३६ ॥

किं हि वक्ष्यति मां राजा त्वदृते नगरं गतम् ।
वक्ष्याम्युचितदर्शित्वात्किं तवान्तःपुराणि वा ॥३७॥

आपके विना नगर में जानेपर राजा मुझे क्या कहेंगे ? या उचित (=शुभ) के दर्शन का अभ्यास होने के कारण अन्तःपुर में मैं क्या कहूँगा ? ॥ ३७ ॥

यदप्यात्थापि नैर्गुण्यं वाच्यं नरपताविति ।
किं तद्वद्याम्यभूतं ते निर्दोषस्य मुनेरिव ॥३८॥

यह जो कहा कि "राजा से मेरी निर्गुणता कहना ; तो क्या मुनि के समान आप निर्दोष के बारे में असत्य कहूँगा ? ॥ ३८ ॥

हृदयेन सलज्जेन जिह्वया सज्जमानया ।
अहं यद्यपि वा ब्रूयां कस्तच्छ्रद्धातुमर्हति ॥३९॥

लज्जा-युक्त हृदय से और (किसी किसी तरह) सज्जित (=उद्यत) होती जीभ से यदि मैं कहूँ भी, तो कौन विश्वास करेगा ? ॥ ३९ ॥

योहि चन्द्रमसस्तैक्ष्ण्यं कथयेच्छ्रद्दधीत वा।
स दोषांस्तव दोषज्ञ कथयेच्छ्रद्दधीत वा ॥४०॥

जो चन्द्रमा की तीक्ष्णता कहेगा या उस पर विश्वास करेगा, हे दोषज्ञ, वही आपके दोष कहे या उस पर विश्वास करे ॥ ४० ॥

सानुक्रोशस्य सततं नित्यं करुणवेदिनः।
स्निग्धत्यागो न सदृशो निवर्तस्व प्रसीद मे ॥४१॥

जो सदा दयावान् है, नित्य करुणा अनुभव करता है, उसके लिए स्नेही का त्याग योग्य नहीं। लौटिये, मुझ पर प्रसन्न होइये ॥ ४१ ॥

इति शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा छन्दस्य भाषितम्।
स्वस्थः परमया धृत्या जगाद वदतां वरः ॥४२॥

शोक से अभिभूत छन्द (= छन्दक) का वचन सुनकर, वक्ता-श्रेष्ठ ने स्वस्थ होकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक कहाः—॥ ४२ ॥

मद्वियोगं प्रति च्छन्द संतापस्त्यज्यतामयम्।
नानाभावो हि नियतं पृथग्जातिषु देहिषु ॥४३॥

"मेरे वियोग के प्रति, हे छन्दक, यह संताप छोड़ो ; देह-धारियों का पृथक् होना नियत है, क्योंकि (मृत्यु के बाद) उनका पृथक् पृथक् जन्म होता है ॥ ४३ ॥

स्वजनं यद्यपि स्नेहान्न त्यजेयमहं स्वयम्।
मृत्युरन्योन्यमवशानस्मान् संत्याजयिष्यति ॥४४॥

यदि स्नेह के कारण स्वजन को मैं स्वयं नहीं भी छोड़ूँ, तो मृत्यु हम विवशों से एक दूसरे का त्याग करावेगी ॥ ४४ ॥

महत्या तृष्णया दुःखैर्गर्भेणास्मि यया धृतः।
तस्या निष्फलयत्नायाः काहं मातुः क सा मम ॥४५॥

बड़ी तृष्णा से कष्ट-पूर्वक जिसके द्वारा मैं गर्भ में धारण किया गया, उस निष्फल-यत्ना माता का मैं कहाँ, मेरी वह कहाँ ! ॥ ४५ ॥

वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाण्डजाः ।
नियतं विप्रयोगान्तस्तथा भूतसमागमः ॥४६॥

जिस प्रकार वास-वृक्ष पर समागम होने के बाद पक्षी पृथक् पृथक् दिशा में चले जाते हैं, अवश्य ही उसी प्रकार प्राणियों के समागम का अन्त वियोग है ॥ ४६ ॥

समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहकाः ।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः ॥४७॥

और जिस प्रकार बादल एकत्र होकर, फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियों का संयोग और वियोग है, (ऐसा) मैं समझता हूँ ॥४७॥

यस्माद्याति च लोकोऽयं विप्रलभ्य परंपरम् ।
ममत्वं न क्षमं तस्मात्स्वप्नभूते समागमे ॥४८॥

और क्योंकि लोग एक दूसरे को ठगकर चले जाते हैं, इसलिए स्वप्न-सदृश समागम में ममता उचित नहीं ॥ ४८ ॥

सहजेन वियुज्यन्ते पर्णरागेण पादपाः ।
अन्येनान्यस्य विश्लेषः किं पुनर्न भविष्यति ॥४९॥

साथ पैदा होनेवाली पत्तों की लाली से पौधों का वियोग होता है, फिर क्या दूसरे से दूसरे का वियोग न होगा ? ॥ ४९ ॥

तदेवं सति संतापं मा कार्षीः सौम्य गम्यताम् ।
लम्बते यदि तु स्नेहो गत्वापि पुनराव्रज ॥५०॥

तब ऐसा होनेपर, हे सौम्य संताप मत करो, जाओ। यदि स्नेह बना ही रहे तो जाकर भी फिर आओ ॥ ५० ॥

ब्रूयाश्चास्मत्कृतापेक्षं जनं कपिलवास्तुनि ।
त्यज्यतां तद्गतः स्नेहः श्रूयतां चास्य निश्चयः ॥५१॥

कपिलवास्तु में मेरी आशा करनेवाले लोगों से कहना—उसके प्रति स्नेह छोड़िये और उसका निश्चय सुनिये ॥ ५१ ॥

क्षिप्रमेष्यति वा कृत्वा जन्ममृत्युक्षयं किल ।
अकृतार्थो निरारम्भो निधनं यास्यतीति वा ।।५२।।

जन्म और मृत्यु का क्षय करके या तो वह शीघ्र ही आवेगा, या प्रयत्नहीन और असफल होकर मृत्यु को प्राप्त होगा ॥ ५२ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा कन्थकस्तुरगोत्तमः ।
जिह्वया लिलिहे पादौ बाष्पमुष्णं मुमोच च ।।५३।।

उसका वचन सुनकर, तुरग-श्रेष्ठ कन्थक ने जीभ से उसके पाँव चाटे और गर्म आँसू बहाये ॥ ५३ ॥

जालिना स्वस्तिकाङ्केन चक्रमध्येन पाणिना ।
आममर्श कुमारस्तं बभाषे च वयस्यवत् ।।५४।।

(रेखा -) जाल-युक्त और स्वस्तिक-चिह्न युक्त हाथ से, जिसके बीच चक्र (का चिह्न) था, कुमार ने उसे स्पर्श किया और समवयस्क के समान कहाः—॥ ५४ ॥

मुञ्च कन्थक मा बाष्पं दर्शितेयं सदश्वता ।
मृष्यतां सफलः शीघ्रं श्रमस्तेऽयं भविष्यति ।।५५।।

"हे कन्थक आँसू मत बहाओ, तुमने यह सदश्वता (=अच्छे घोड़े का गुण) दिखाई। क्षमा करो, शीघ्र ही तुम्हारा यह श्रम सफल होगा ।।५५।।

मणित्सरुं छन्दकहस्तसंस्थं ततः स धीरो निशितं गृहीत्वा ।
कोशादसिं काञ्चनभक्तिचित्रं बिलादिवाशीविषमुद्ववर्ह ।।५६।।

तब उस धीर ने मणियों की बेंटवाली, सोने से मढ़ी तेज तलवार, जो छन्दक के हाथ में थी, (अपने हाथ में) ले ली और उसे म्यान से ऐसे निकाला जैसे बिल से साँप को (निकाल रहा हो) ॥ ५६ ॥

निष्कास्य तं चोत्पलपत्रनीलं चिच्छेद चित्रं मुकुटं सकेशम् ।
विकीर्यमाणांशुकमन्तरीक्षे चिक्षेप चैनं सरसीव हंसम् ।।५७।।

और उत्पल के पत्तों के समान नीलवर्ण उस (तलवार) को निकाल कर, केश-सहित चित्र-विचित्र मुकुट को काटा; और फैलती किरणों के

साथ उसे आकाश में फेंका, जैसे हंस को सरोवर में (फेंक रहा हो) ॥५७॥

पूजाभिलाषेण च बाहुमान्याद्दिवौकसस्तं जगृहुः प्रविद्धम् ।
यथावदेनं दिवि देवसङ्घा दिव्यैर्विशेषैर्महयां च चक्रुः ॥५८॥

और देवताओं ने उस फेंके हुए (मुकुट) को सम्मान के कारण पूजा (करने) की अभिलाषा से ले लिया और स्वर्ग में देव-सङ्घों ने दिव्य विशेषताओं के साथ उसकी यथावत् पूजा की ॥ ५८ ॥

मुक्त्वा त्वलंकारकलत्रवत्तां श्रीविप्रवासं शिरसश्च कृत्वा ।
दृष्ट्वांशुकं काञ्चनहंसचिह्नं वन्यं स धीरोऽभिचकाङ्क्ष वासः ॥५९॥

अलङ्काररूप कलत्र का स्वामित्व छोड़कर और शिर की शोभा को निर्वासित कर सुवर्ण हंसों से चित्रित अपने अंशुक को देखकर, उस धीर ने तपो-वन के योग्य वस्त्र की आकांक्षा की ॥ ५९ ॥

ततो मृगव्याधवपुर्दिवौका भावं विदित्वास्य विशुद्धभावः ।
काषायवस्त्रोऽभिययौ समीपं तं शाक्यराजप्रभवोऽभ्युवाच ॥६०॥

तब उसका भाव जानकर, विशुद्धभाव देवता मृगों के व्याध के रूप में काषाय वस्त्र पहने हुए, उसके समीप गया; शाक्य-राज के पुत्र ने उसे कहा:— ॥ ६० ॥

शिवं च काषायमृषिध्वजस्ते न युज्यते हिंस्रमिदं धनुश्च ।
तत्सौम्य यद्यस्ति न सक्तिरत्र मह्यं प्रयच्छेदमिदं गृहाण ॥६१॥

"इस हिंसक धनुष के साथ तुम्हारा यह काषाय वस्त्र जो ऋषियों का चिह्न है, मेल नहीं खाता। इसलिए, हे सौम्य, यदि इसमें आसक्ति नहीं है, तो मुझे यह (अपना) दो, और यह (मेरा) लो।"

व्याधोऽब्रवीत्कामद काममारादनेन विश्वास्य मृगान्निहन्मि ।
अर्थस्तु शक्रोपम यद्यनेन हन्त प्रतीच्छानय शुक्लमेतत् ॥६२॥

व्याध ने कहा—"हे कामनाओं की पूर्ति करनेवाले, समीप से इसके द्वारा विश्वास पैदा कर मृगों को मारता हूँ। किंतु, हे इन्द्र-तुल्य, यदि इससे प्रयोजन हो, तो लो और यह श्वेत (वस्त्र) लाओ" ॥ ६२ ॥

परेण हर्षेण ततः स वन्यं जग्राह वासोऽशुकमुत्ससर्ज ।
व्याधस्तु दिव्यं वपुरेव बिभ्रत्तच्छुक्लमादाय दिवं जगाम ॥६३॥

तब परम हर्ष से उसने वन-योग्य वस्त्र ग्रहण किया और अंशुक छोड़ दिया । व्याध दिव्य शरीर धारण कर, श्वेत (वस्त्र) ले, स्वर्ग को चला गया ॥ ६३ ॥

ततः कुमारश्च स चाश्वगोपस्तस्मिंस्तथा याति विसिस्मियाते ।
आरण्यके वाससि चैव भूयस्तस्मिन्नकार्ष्टां बहुमानमाशु ॥६४॥

तब उसके उस प्रकार जानेपर, कुमार और वह अश्व-रक्षक विस्मित हुए और उन्होंने वन-योग्य वस्त्र के प्रति (मन में) बड़ा सम्मान किया ॥ ६४ ॥

छन्दं ततः साश्रुमुखं विसृज्य काषायसंभृद्धृतिकीर्तिभृत्सः ।
येनाश्रमस्तेन ययौ महात्मा संध्याभ्रसंवीत इवोडुराजः ॥६५॥

तब अश्रुमुख छन्द को विदाकर, काषाय-धारी धृतिमान् कीर्तिमान् वह महात्मा, संन्ध्या-कालीन मेघों से आवृत चन्द्रमा के समान, जहाँ आश्रम था वहाँ गया ॥ ६५ ॥

ततस्तथा भर्तरि राज्यनिःस्पृहे तपोवनं याति विवर्णवाससि ।
भुजौ समुत्क्षिप्य ततः स वाजिभृद् भृशं विचुक्रोश पपात च क्षितौ ६६

राज्य (- भोग) की इच्छा से मुक्त हुआ उसका स्वामी जब विवर्ण वस्त्र पहन कर वहाँ से तपोवन की ओर गया, तब भुजाओं को फैलाकर रोते रोते वह अश्व-रक्षक पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ६६ ॥

विलोक्य भूयश्च रुरोद सस्वरं हयं भुजाभ्यामुपगुह्य कन्थकम् ।
ततो निराशो विलपन्मुहुर्मुहुर्ययौ शरीरेण पुरं न चेतसा ॥६७॥

फिर (पीछे) देखकर, भुजाओं से कन्थक घोड़े को पकड़कर जोर-जोर से रोया । तब निराश होकर बार-बार रोता हुआ वह, शरीर से न कि चित्त से, नगर की ओर गया ॥ ६७ ॥

क्वचित्प्रदध्यौ विललाप च क्वचित् क्वचित्प्रचस्खाल पपात च क्वचित् ।
अतो व्रजन् भक्तिवशेन दुःखितश्चचार बह्वीरवशः पथि क्रियाः ॥६८॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये छन्दकनिवर्तनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

कहीं ध्यान किया और कहीं विलाप, कहीं फिसला और कहीं गिरा। अतः भक्ति-वश दुःखी होकर जाते हुए, उस बेबस ने मार्ग में बहुत सी क्रियाएँ कीं ॥ ६८ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "छन्दक-विसर्जन" नामक
छठा सर्ग समाप्त।

६८—चतुर्थ पाद में "अवसः" की जगह "अवशः" रक्खा गया है।

सातवाँ सर्ग

तपोवन-प्रवेश

ततो विसृज्याश्रुमुखं रुदन्तं छन्दं वनच्छन्दतया निरास्थः ।
सर्वार्थसिद्धो वपुषाभिभूय तमाश्रमं सिद्ध इव प्रपेदे ॥ १ ॥

तब वन (जाने) की इच्छा के कारण आसक्तियों से मुक्त होकर, अश्रु-मुख रोते छन्द को विदाकर, सिद्ध के समान अपने रूप से उस आश्रम को अभिभूत करता हुआ सर्वार्थसिद्ध (= सिद्धार्थ) वहाँ गया ॥ १ ॥

स राजसूनुर्मृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगवत्प्रविष्टः ।
लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षूंषि सर्वाश्रमिणां जहार ॥ २ ॥

मृगराजगामी उस नृपात्मज ने मृगों के उस आँगन में मृग के समान प्रवेश किया। (वस्त्राभूषणों की) लक्ष्मी (= शोभा) से रहित होने पर भी शरीर की लक्ष्मी से उसने सब आश्रम-वासियों की आँखें हर लीं ॥ २ ॥

स्थिता हि हस्तस्थयुगास्तथैव कौतूहलाच्चक्रधराः सदाराः ।
तमिन्द्रकल्पं ददृशुर्न जग्मुर्धुर्या इवार्धावनतैः शिरोभिः ॥ ३ ॥

चक्रधर तपस्वी पत्नियों के साथ कुतूहल-वश उसी प्रकार हाथों में जुए रखकर (भार-वाहक) बैलों के समान आधे-झुके शिरों से उस इन्द्र-तुल्य को देखते रहे, (वहाँ से) गये नहीं ॥ ३ ॥

विप्राश्च गत्वा बहिरिध्महेतोः प्राप्ताः समित्पुष्पपवित्रहस्ताः ।
तपःप्रधानाः कृतबुद्धयोऽपि तं द्रष्टुमीयुर्न मठानभीयुः ॥ ४ ॥

३—चक्रधर तपस्वी हाथों में जुए रख कर हल चलाते होंगे ।

होम की लकड़ी के लिए बाहर गये विप्र लौट चुके थे, समिधा और फूलों से उनके हाथ पवित्र थे। महातपस्वी एवं बुद्धिमान् होने पर भी वे उसे देखने के लिए गये, मठों को नहीं गये ॥ ४ ॥

हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तः।
शष्पाणि हित्वाभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च ॥ ५ ॥

प्रसन्न होकर उठते हुए मोर वैसे ही बोलने लगे, जैसे नीले बादल को देखकर। तृण छोड़कर चञ्चल आँखोंवाले मृग व मृगों के समान (तृण) चरनेवाले तपस्वी सामने खड़े हुए ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा तमिक्ष्वाकुकुलप्रदीपं ज्वलन्तमुद्यन्तमिवांशुमन्तम्।
कृतेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुस्रुवुर्होमदुहश्च गावः ॥ ६ ॥

उदय होते सूर्य के समान प्रज्वलित होते उस इक्ष्वाकु-कुल-प्रदीप को देखकर, प्रसन्न हुई गाएँ जो होम के लिए दूही जाती थीं, दूहे जाने पर भी (फिर) प्रस्रवित हुईं (उनके थनों से दूध चूने लगा) ॥ ६ ॥

कच्चिद्वसूनामयमष्टमः स्यात्स्यादश्विनोरन्यतरश्च्युतो वा।
उच्चेरुरुच्चैरिति तत्र वाचस्तद्दर्शनाद्विस्मयजा मुनीनाम् ॥ ७ ॥

"क्या यह वसुओं में से अष्टम है या अश्विनों में से गिरा हुआ एक?" उसके दर्शन से मुनियों के ऐसे ही विस्मय जनक वचन वहाँ जोर जोर से उच्चरित हुए ॥ ७ ॥

लेखर्षभस्येव वपुर्द्वितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य।
स द्योतयामास वनं हि कृत्स्नं यदृच्छया सूर्य इवावतीर्णः ॥ ८ ॥

इन्द्र के दूसरे शरीर के समान, चराचर संसार की ज्योति के समान, उसने समस्त वन को भासित किया, जैसे स्वेच्छा से उतरा हुआ सूर्य हो ॥ ८ ॥

ततः स तैराश्रमिभिर्यथावदभ्यर्चितश्चोपनिमन्त्रितश्च।
प्रत्यर्चयां धर्मभृतो बभूव स्वरेण साम्भोऽम्बुधरोपमेन ॥ ९ ॥

तब उन आश्रम-वासियों द्वारा यथावत् पूजित और निमंत्रित

होने पर, उसने सजल जलद के समान स्वर से उन धार्मिकों की प्रति-पूजा की ॥ ९ ॥

कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गाभिकामेन विमोक्षकामः ।
तमाश्रमं सोऽनुचचार धीरस्तपांसि चित्राणि निरीक्षमाणः ॥१०॥

पुण्य (अर्जन) करनेवाले स्वर्गाभिलाषी लोगों से भरे उस आश्रम में मोक्ष के इच्छुक उस धीर ने, विविध तपस्याओं को देखते हुए, विचरण किया ॥ १० ॥

तपःप्रकारांश्च निरीक्ष्य सौम्यस्तपोवने तत्र तपोधनानाम् ।
तपस्विनं कंचिदनुव्रजन्तं तत्त्वं विजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥११॥

वहाँ तपोवन में तपस्वियों की विविध तपस्याएँ देखकर, उस सौम्य ने पीछे पीछे जाते हुए किसी तपस्वी से, तत्त्व जानने की इच्छा से, यह कहा—॥ ११ ॥

तत्पूर्वमद्याश्रमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधिं न जाने ।
तस्माद्भवानर्हति भाषितुं मे यो निश्चयो यत्प्रति वः प्रवृत्तः ॥१२॥

"मेरा यह प्रथम आश्रम-दर्शन है, जिस कारण मैं इस धर्म-विधि को नहीं जानता हूँ । इसलिए आप मुझे कहें कि आप लोगों का निश्चय क्या है, (और) किसके प्रति (यह निश्चय) प्रवृत्त है ॥ १२ ॥

ततो द्विजातिः स तपोविहारः शाक्यर्षभायर्षभविक्रमाय ।
क्रमेण तस्मै कथयांचकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥१३॥

तब उस तपस्वी द्विज ने उत्तम पराक्रमवाले उस शाक्य-श्रेष्ठ से क्रमशः तपस्या की विशेषताएँ और तपस्या का फल बतायेः—॥ १३ ॥

अग्राम्यमन्नं सलिले प्ररूढं पर्णानि तोयं फलमूलमेव ।
यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिन्नास्तु ते ते तपसां विकल्पाः ॥१४॥

"जल में उत्पन्न अग्राम्य (=जंगली) अन्न, पत्ते, जल, फल और

११—"तपोविकारांश्च" की जगह "तपःप्रकारांश्च" रक्खा गया है ।

मूल, जैसा कि शास्त्र कहता है, यही मुनियों की वृत्ति है; तपस्याओं के भिन्न भिन्न बहुत से प्रकार हैं ॥ १४ ॥

उञ्छेन जीवन्ति खगा इवान्ये तृणानि केचिन्मृगवच्चरन्ति ।
केचिद्भुजङ्गैः सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन ॥१५॥

दूसरे (तपस्वी) चिड़ियों की तरह चुने हुए (अन्न) पर जीते हैं, (तो) कुछ मृगों के समान तृण चरते हैं। वल्मीक (मिट्टी के ढेर) हुए कुछ (तपस्वी) साँपों के साथ जंगली हवा पर रहते हैं ॥ १५ ॥

अश्मप्रयत्नार्जितवृत्तयोऽन्ये केचित्स्वदन्तापहतान्नभक्षाः ।
कृत्वा परार्थं श्रपणं तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमस्ति ॥१६॥

दूसरे पत्थरों से कूट कर जीविका चलाते हैं, कोई अपने दाँतों से छिले अन्न खाते हैं। तथा दूसरे दूसरों के लिए पाक करते हैं और यदि शेष रहता है, तो (अपना) कार्य (=भोजन आदि) करते हैं ॥ १६ ॥

केचिज्जलक्लिन्नजटाकलापा द्विः पावकं जुह्वति मन्त्रपूर्वम् ।
मीनैः समं केचिदपो विगाह्य वसन्ति कूर्मोल्लिखितैः शरीरैः ॥१७॥

कोई जल से जटा-कलाप भिगोकर दो बार मंत्रपूर्वक अग्नि में हवन करते हैं। कोई जल में प्रवेश कर मछलियों के साथ रहते हैं, कछुओं से उनके शरीर विद्ध होते रहते हैं ॥ १७ ॥

एवंविधैः कालचितैस्तपोभिः परैर्दिवं यान्त्यपरैर्नृलोकम् ।
दुःखेन मार्गेण सुखं ह्युपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥१८॥

(उचित) काल में अर्जित ऐसी उत्तम तपस्याओं से वे स्वर्ग जाते हैं और निकृष्ट तपस्याओं से मर्त्यलोक। दुःख के मार्ग से सुख प्राप्त होता है; (लोग) सुख को ही धर्म का मूल (=उद्देश्य) कहते हैं" ॥ १८ ॥

इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य ।
अदृष्टतत्त्वोऽपि न संतुतोष शनैरिदं चात्मगतं बभाषे ॥१९॥

उस तपस्वी का ऐसा वचन सुनकर, राजकुमार को, यद्यपि उसने

तत्त्व को नहीं देखा था, संतोष नहीं हुआ और उसने धीरे धीरे अपने को यों कहा:—॥ १९ ॥

दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च।
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पे श्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥२०॥

"अनेक प्रकार की तपस्याएँ दुःखात्मक हैं, और तपस्या का प्रधान फल स्वर्ग है, और सब लोक विकारवान् (परिवर्तनशील) हैं; (तब) आश्रमों (=आश्रमवासियों) का यह श्रम निश्चय ही स्वल्प (उद्देश्य) के लिए है ॥ २० ॥

प्रियांश्च बन्धून्विषयांश्च हित्वा ये स्वर्गहेतोर्नियमं चरन्ति।
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥२१॥

जो प्रिय बन्धुओं और विषयों को छोड़कर स्वर्ग प्राप्त करने के लिए नियम का आचरण करते हैं; वे उससे बिछुड़ कर फिर और भी बड़े बन्धन में जाना चाहते हैं ॥ २१ ॥

कायक्लमैर्यश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः।
संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छति दुःखमेव ॥२२॥

जो तप नामक शारीरिक क्लेशों से कामोपभोग के हेतु प्रवृत्ति (जीवन) की आकांक्षा करता है, वह भव-चक्र के दोषों को नहीं देखता हुआ (तपरूप) दुःख से (जीवन रूप) दुःख की ही इच्छा करता है ॥ २२ ॥

त्रासश्च नित्यं मरणात्प्रजानां यत्नेन चेच्छन्ति पुनःप्रसूतिम्।
सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युस्तत्रैव मग्ना यत एव भीताः ॥२३॥

मृत्यु से जीव बराबर डरते हैं और यत्नपूर्वक पुनर्जन्म चाहते हैं। प्रवृत्ति होने पर मृत्यु निश्चित है। अतः वे जिसी से डरते हैं उसी में डूबते हैं ॥ २३ ॥

इहार्थमेके प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये श्रममाप्नुवन्ति।
सुखार्थमाशाकृपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थे खलु जीवलोकः ॥२४॥

कोई इस लोक के लिए कष्ट करते हैं, दूसरे स्वर्ग के लिए श्रम करते हैं। निश्चय ही सुख की आशा से दीन प्राणि-जगत् अकृतार्थ होकर विपत्ति में पड़ता है ॥ २४ ॥

न खल्वयं गर्हित एव यत्नो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी।
प्राज्ञैः समानेन परिश्रमेण कार्यं तु तद्यत्र पुनर्न कार्यम् ॥२५॥

अवश्य ही यह यत्न निन्दित नहीं जो हीन को छोड़ कर विशेष (= उत्तम) की ओर जाता है। बुद्धिमानों को समान परिश्रम से वह करना चाहिए जिसमें फिर उन्हें (कुछ) न करना पड़े ॥ २५ ॥

शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः।
धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः ॥२६॥

यदि इस लोक में शरीर-पीड़ा (क्लेश, तप) धर्म है, तो शरीर का सुख अधर्म। धर्म से पर-लोक में (जीव) सुख प्राप्त करता है, इसलिए धर्म, इस लोक में, अधर्म का फल धारण करता है ॥ २६ ॥

यतः शरीरं मनसो वशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च।
युक्तो दमश्चेतस एव तस्माच्चित्तादृते काष्ठसमं शरीरम् ॥२७॥

क्योंकि मन की प्रभुता से शरीर प्रवृत्त और निवृत्त होता है; इसलिए चित्त का ही दमन उचित है, चित्त के विना शरीर काठ के समान है ॥ २७ ॥

आहारशुद्ध्या यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मृगाणामपि पुण्यमस्ति।
ये चापि बाह्याः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखार्थाः ॥२८॥

आहार की शुद्धि से यदि अभिलषित पुण्य हो, तब मृगों को भी पुण्य होता है और उन लोगों को भी, जो (धर्म के) फल (= सुख) से रहित हैं और भाग्य-दोष से धन जिनसे विमुख है (क्योंकि ऐसे दुःखी तथा निर्धन मनुष्य तपस्वी का ही आहार करते हैं) ॥ २८ ॥

दुःखेऽभिसंधिस्त्वथ पुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसंधिः।
अथ प्रमाणं न सुखेऽभिसंधिर्दुःखे प्रमाणं ननु नाभिसंधिः ॥२९॥

दुःख (तपस्या) में यदि सङ्कल्प पुण्य का कारण है तो सुख में भी वह सङ्कल्प करना चाहिए (जो कि पुण्य का कारण है)। यदि सुख में सङ्कल्प प्रमाण नहीं है, तो दुःख में भी सङ्कल्प प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः ।
तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥३०॥

उसी प्रकार कर्म की शुद्धि के लिए जो लोग जल को तीर्थ समझकर स्पर्श करते हैं, उनके हृदय में यह केवल संतोष ही है; क्योंकि पानी पाप को पवित्र नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

स्पृष्टं हि यद्यद्गुणवद्भिरम्भस्तत्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम् ।
तस्माद्गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥३१॥

गुणवान् जिस जिस जल का स्पर्श करते हैं यदि पृथिवी पर वही इष्ट तीर्थ है, तब गुणों को ही मैं तीर्थ समझता हूँ, पानी तो निस्संदेह पानी ही है ॥ ३१ ॥

इति स्म तत्तद्बहुयुक्तियुक्तं जगाद चास्तं च ययौ विवस्वान ।
ततो हविर्धूमविवर्णवृक्षं तपःप्रशान्तं स वनं विवेश ॥३२॥

इस तरह उसने युक्ति-युक्त बहुत कुछ कहा और तब सूर्य अस्त हुआ। उसके बाद उसने वन में प्रवेश किया, जिसके वृक्ष होम के धुएँ से विवर्ण थे और जहाँ तपस्या की शान्ति थी ॥ ३२ ॥

२९.—इस श्लोक की व्याख्या यह होगी:—"तपस्या करते हुए जो पुण्य प्राप्त होता है उसका कारण यदि मानसिक संकल्प (intention) है, तो सुखोपभोग करते हुए भी वही संकल्प करना चाहिए जिससे पुण्य प्राप्त हो। यदि सुखोपभोग करते हुए संकल्प करने से पुण्य नहीं मिल सकता है तो तपस्या करते हुए भी संकल्प करने से पुण्य नहीं मिलना चाहिए।

अभ्युद्धृतप्रज्वलिताग्निहोत्रं कृताभिषेकर्षिजनावकीर्णम् ।
जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तमिव प्रवृत्तम् ॥३३॥

वहाँ प्रज्वलित अग्निहोत्र उठाये जा रहे थे, स्नान किये ऋषियों से वह वन भर रहा था, जप के शब्द से देव-मन्दिर कूजित थे, मानो वह वन धर्म का कर्मान्त हो गया था ॥ ३३ ॥

काश्चिन्निशास्तत्र निशाकराभः परीक्षमाणश्च तपांस्युवास ।
सर्वं परिक्षेप्य तपश्च मत्वा तस्मात्तपःक्षेत्रतलाज्जगाम ॥३४॥

वह चन्द्रोपम तपों की परीक्षा करता हुआ कई रातों तक वहाँ रहा। चारो ओर से सब तप को समझ कर, वह उस तपोभूमि से चला गया ॥ ३४ ॥

अन्वव्रजन्नाश्रमिणस्ततस्तं तद्रूपमाहात्म्यगतैर्मनोभिः ।
देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम् ॥३५॥

उसके रूप तथा माहात्म्य में लगे चित्तों से आश्रम-वासी उसके पीछे पीछे गये, जैसे अनार्यों से जीते जाते देश से हटते धर्म के पीछे पीछे महर्षिगण जा रहे हों ॥ ३५ ॥

ततो जटावल्कलचीरखेलांस्तपोधनांश्चैव स तान्ददर्श ।
तपांसि चैषामनुरुध्यमानस्तस्थौ शिवे श्रीमति वृक्षमूले ॥३६॥

तब उसने जटा-वल्कल-चीर-वस्त्र-धारी उन तपस्वियों को आते देखा और उनके तपों का सम्मान करता हुआ वह मङ्गलमय सुन्दर वृक्ष के नीचे ठहर गया ॥ ३६ ॥

अथोपसृत्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्यं परिवार्य तस्थुः ।
वृद्धश्च तेषां बहुमानपूर्वं कलेन साम्ना गिरमित्युवाच ॥३७॥

तब समीप जाकर, आश्रम-वासी उस नर-श्रेष्ठ को घेर कर खड़े

३३—कर्मान्त = खलिहान, कारखाना, स्थली ।

हो गये और उनमें से वृद्ध ने अति सम्मानपूर्वक मधुरता एवं सान्त्वना से यह बचन कहा:—॥ ३७ ॥

त्वय्यागते पूर्ण इवाश्रमोऽभूत्संपद्यते शून्य इव प्रयाते।
तस्मादिमं नार्हसि तात हातुं जिजीविषोर्देहमिवेष्टमायुः ॥३८॥

"आपके आने पर आश्रम मानो पूर्ण हो गया था, जाने पर मानो शून्य हो रहा है। इसलिए, हे तात, आपको इसे न छोड़ना चाहिए, जैसे जीने की इच्छा करनेवाले की देह को अभिलषित आयु (न छोड़े) ॥ ३८ ॥

ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिजुष्टः पुण्यः समीपे हिमवान् हि शैलः।
तपांसि तान्येव तपोधनानां यत्संनिकर्षाद्बहुलीभवन्ति ॥३९॥

ब्रह्मर्षियों राजर्षियों और देवर्षियों से सेवित पवित्र हिमवान् पर्वत समीप में है, जिसकी निकटता से तपस्वियों की ये ही तपस्याएँ (प्रभाव में) बढ़ जाती हैं ॥ ३९ ॥

तीर्थानि पुण्यान्यभितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य।
जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मवद्भिर्देवर्षिभिश्चैव महर्षिभिश्च ॥४०॥

उसी प्रकार स्वर्ग के सोपान-स्वरूप ये पवित्र तीर्थ चारो ओर हैं, जो धर्मात्मा तथा आत्मवान् देवर्षियों और महर्षियों से सेवित हैं ॥ ४० ॥

इतश्च भूयः क्षममुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः।
न तु क्षमं दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रयातुम् ॥४१॥

और यहाँ से फिर विशेष धर्म के हेतु उत्तर दिशा का ही सेवन करना उचित है; बुद्धिमान के लिए दक्षिण की ओर एक पग भी जाना उचित नहीं होगा ॥ ४१ ॥

तपोवनेऽस्मिन्नथ निष्क्रियो वा संकीर्णधर्मापतितोऽशुचिर्वा।
दृष्टस्त्वया येन न ते विवत्सा तद्ब्रूहि यावद्रुचितोऽस्तु वासः ॥४२॥

यदि आपने इस तपोवन में (किसी को) निष्क्रिय, या संकीर्ण

धर्म में गिरा हुआ अपवित्र देखा है, जिससे आपकी यहाँ रहने की इच्छा नहीं, तो वैसा कहिये; और तब तक आप यहाँ रहें ॥ ४२ ॥

इमे हि वाञ्छन्ति तपःसहायं तपोनिधानप्रतिमं भवन्तम् ।
वासस्त्वया हीन्द्रसमेन सार्धं बृहस्पतेरभ्युदयावहः स्यात् ॥४३॥

क्योंकि ये (तपस्वी) आप तप-निधान सदृश को तप का साथी (बनाना) चाहते हैं; क्योंकि इन्द्र-तुल्य आपके साथ निवास करना बृहस्पति के लिये भी उदयप्रद होगा।" ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्तः स तपस्विमध्ये तपस्विमुख्येन मनीषिमुख्यः ।
भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः स्वं भावमन्तर्गतमाचचक्षे ॥४४॥

तपस्वियों के बीच उस प्रधान तपस्वीद्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उस श्रेष्ठ मनीषी ने, जिसने जन्म-विनाश के लिए प्रतिज्ञा की थी, अपना आन्तरिक भाव बताया:—॥ ४४ ॥

ऋज्वात्मनां धर्मभृतां मुनीनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम् ।
एवंविधैर्मां प्रति भावजातैः प्रीतिः परा मे जनितश्च मानः ॥४५॥

"सरल तथा धर्मपालक मुनि अपनी आतिथ्य-प्रियता के कारण स्वजनों के समान हैं; मेरे प्रति उनके ऐसे भावों से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैं सम्मानित हुआ ॥ ४५ ॥

स्निग्धाभिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः ।
रतिश्च मे धर्मनवग्रहस्य विस्पन्दिता संप्रति भूय एव ॥४६॥

संक्षेप में, स्नेह-भरे हृदय-स्पर्शी इन वचनों से मैंने मानो स्नान किया; और हाल में ही धर्म को ग्रहण करने पर भी (धर्म के प्रति) मेरा आनंद इस समय फिर बढ़ रहा है ॥ ४६ ॥

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरण्यानतीव संदर्शितपक्षपातान् ।
यास्यामि हित्वेति ममापि दुःखं यथैव बन्धूंस्त्यजतस्तथैव ॥४७॥

इस प्रकार (तपस्या में) लगे हुए आप लोगों को, जो आश्रय देनेवाले हैं और जिन्होंने मेरे प्रति अत्यन्त पक्षपात (ममत्व) दिखाया

है, छोड़ कर जाऊँगा—इससे मुझे भी वैसा ही दुःख है जैसा कि बन्धुओं को छोड़ते समय मुझे (हुआ था) ॥ ४७ ॥

स्वर्गाय युष्माकमयं तु धर्मो ममाभिलाषस्त्वपुनर्भवाय।
अस्मिन्वने येन न मे विवत्सा भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिधर्मः ॥४८॥

आप लोगों का यह धर्म स्वर्ग के लिए है, मेरी अभिलाषा पुनर्जन्म के अभाव के लिए (=पुनर्जन्म न हो, इसके लिए) है, इसी कारण इस वन में मेरी रहने की इच्छा नहीं; क्योंकि निवृत्ति-धर्म प्रवृत्ति से भिन्न है ॥ ४८ ॥

तन्नारतिर्मे न परापचारो वनादितो येन परिव्रजामि।
धर्मे स्थिताः पूर्वयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महर्षिकल्पाः ॥४९॥

यह न मेरी अरुचि है न दूसरों की आचार-हीनता; जिससे मैं इस वन से जा रहा हूँ; क्योंकि महर्षि-तुल्य आप सब पूर्व युग के अनुरूप धर्म में स्थित हैं।" ॥ ४९ ॥

ततो वचः सूनृतमर्थवच्च सुश्लक्ष्णमोजस्वि च गर्वितं च।
श्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः ॥५०॥

तब कुमार का प्रिय, अर्थ-पूर्ण, स्निग्ध, ओजस्वी तथा गौरव पूर्ण वचन सुन कर वे तपस्वी अत्यन्त सम्मानित हुए ॥ ५० ॥

कश्चिद् द्विजस्तत्र तु भस्मशायी प्रांशुः शिखी दारवचीरवासाः।
आपिङ्गलाक्षस्तनुदीर्घघोणः कुण्डैकहस्तो गिरमित्युवाच ॥५१॥

वहाँ राख में सोनेवाले, लम्बा शरीरवाले, शिखावाले, वल्कल वस्त्र-वाले, पीली आँखोंवाले, पतली व लम्बी नाकवाले, किसी द्विज ने, जिसके हाथ में पात्र था, यह वचन कहाः—॥ ५१ ॥

धीमन्नुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः।
स्वर्गापवर्गौ हि विचार्य सम्यग्यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥

"हे मेधाविन्, आपका निश्चय उदार है, आपने युवा होकर जन्म में

दोष देखा ; क्योंकि स्वर्ग व अपवर्ग का सम्यक् विचार कर अपवर्ग में जिसकी बुद्धि है, (वास्तव) में वही है ॥ ५२ ॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः ।
रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥

रागी (पुरुष) उन उन यज्ञों, तपों और नियमों से स्वर्ग जाने की इच्छा करते हैं ; किंतु सत्त्ववान् (पुरुष) राग के साथ, शत्रु के समान, युद्ध कर मोक्ष पाने की इच्छा करते हैं ॥ ५३ ॥

तद् बुद्धिरेषा यदि निश्चिता ते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम् ।
असौ मुनिस्तत्र वसत्यराडो यो नैष्ठिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥५४॥

इसलिए यदि आपकी यह निश्चित बुद्धि है, तो शीघ्र ही आप विन्ध्य-कोष्ठ जाइये । वहाँ वह मुनि अराड रहता है, जिसने नैष्ठिक कल्याण में दृष्टि पाई है ॥ ५४ ॥

तस्माद्भवाञ्छ्रोष्यति तत्त्वमार्गं सत्यां रुचौ संप्रतिपत्स्यते च ।
यथा तु पश्यामि मतिस्तथैषा तस्यापि यास्यत्यवधूय बुद्धिम् ॥५५॥

उससे आप तत्व-मार्ग सुनेंगे और रुचि होने पर स्वीकार करेंगे ; किंतु जैसा मैं देखता हूँ, आपकी यह बुद्धि ऐसी है कि उसकी भी बुद्धि का तिरस्कार कर आप चले जायँगे ॥ ५५ ॥

स्पष्टोच्चघोणं विपुलायताक्षं ताम्राधरौष्ठं सिततीक्ष्णदंष्ट्रम् ।
इदं हि वक्त्रं तनुरक्तजिह्वं ज्ञेयार्णवं पास्यति कृत्स्नमेव ॥५६॥

स्पष्ट व ऊँची नाकवाला, बड़ी व लम्बी आँखोंवाला, लाल ओठवाला, सफेद व तेज दाँतोंवाला, पतली व लम्बी जीभवाला (आपका) यह मुख सम्पूर्ण ही ज्ञान-सागर का पान करेगा ॥ ५६ ॥

गम्भीरता या भवतस्त्वगाधा या दीप्तता यानि च लक्षणानि ।
आचार्यकं प्राप्स्यसि तत्पृथिव्यां यन्नर्षिभिः पूर्वयुगेऽप्यवाप्तम् ॥५७॥

आपकी जो अगाध गम्भीरता है, जो दीप्ति है, और जो लक्षण हैं,

(इनसे प्रकट है कि) आप पृथिवी पर वह आचार्य पद प्राप्त करेंगे, जो ऋषियों ने पूर्व युग में भी नहीं पाया" ॥ ५७ ॥

परममिति ततो नृपात्मजस्तमृषिजनं प्रतिनन्द्य निर्ययौ।
विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविविशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥५८॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये तपोवनप्रवेशो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

तब "अच्छा" कह और उन ऋषियों को प्रणाम कर, राजा का पुत्र चला गया। उन आश्रम-वासियों ने भी उसका विधिवत् सम्मान कर तपोवन में प्रवेश किया ॥ ५८ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "तपोवन-प्रवेश" नामक
सातवाँ सर्ग समाप्त।

आठवाँ सर्ग

अन्तःपुर-विलाप

ततस्तुरङ्गावचरः स दुर्मनास्तथा वनं भर्तरि निर्ममे गते।
चकार यत्नं पथि शोकनिग्रहे तथापि चैवाश्रु न तस्य चिक्षिये ॥ १ ॥

तब निर्मम स्वामी के उस प्रकार वन चले जाने पर उस उदास अश्व-रक्षक ने रास्ते में अपने शोक-निग्रह का यत्न किया; तो भी उसका आँसू क्षीण नहीं हुआ ॥ १ ॥

यमेकरात्रेण तु भर्तुराज्ञया जगाम मार्गं सह तेन वाजिना।
इयाय भर्तुर्विरहं विचिन्तयंस्तमेव पन्थानमहोभिरष्टभिः ॥ २ ॥

स्वामी की आज्ञा से उस घोड़े के साथ जिस मार्ग से वह एक दिन में गया, स्वामी-वियोग की चिन्ता करता हुआ उसी रास्ते से वह आठ दिनों में आया ॥ २ ॥

हयश्च सौजा विचचार कन्थकस्तताम भावेन बभूव निर्मदः।
अलंकृतश्चापि तथैव भूषणैरभूद्गतश्रीरिव तेन वर्जितः ॥ ३ ॥

ओजस्वी घोड़ा कन्थक चला, (दुःख के) भाव से थक गया, मद-रहित हो गया। भूषणों से उसी प्रकार अलङ्कृत होने पर भी अपने स्वामी के विना वह मानो श्री-हीन था ॥ ३ ॥

निवृत्य चैवाभिमुखस्तपोवनं भृशं जिहेषे करुणं मुहुर्मुहुः।
क्षुधान्वितोऽप्यध्वनि शष्पमम्बु वा यथा पुरा नाभिननन्द नाददे ४

और तपोवन की ओर मुड़कर वह दुःख के साथ बार-बार खूब हिन-हिनाया। रास्ते में भूख लगने पर भी वह तृण या जल से पहले की तरह न आनन्दित हुआ, न उसे ग्रहण किया ॥ ४ ॥

ततो विहीनं कपिलाह्वयं पुरं महात्मना तेन जगद्धितात्मना।
क्रमेण तौ शून्यमिवोपजग्मतुर्दिवाकरेणेव विनाकृतं नभः॥५॥

तब वे दोनों, जगत् के हित में ही जिसकी आत्मा थी उस महात्मा से रहित कपिल नामक नगर के समीप क्रम से गये, जो (नगर) सूर्य-रहित आकाश के समान सूना-सा था॥५॥

सपुण्डरीकैरपि शोभितं जलैरलंकृतं पुष्पधरैर्नगैरपि।
तदेव तस्योपवनं वनोपमं गतप्रहर्षैर्न रराज नागरैः॥६॥

कमल-युक्त जलाशयों से शोभित होने पर भी, पुष्पयुक्त वृक्षों से अलंकृत रहने पर भी उसका वही उपवन जंगल के समान जान पड़ा; आनन्द-रहित नगर-निवासियों से वह दीप्त नहीं हुआ॥६॥

ततो भ्रमद्भिर्दिशि दीनमानसैरनुज्ज्वलैर्बाष्पहतेक्षणैर्नरैः।
निवार्यमाणाविव तावुभौ पुरं शनैरपस्नातमिवाभिजग्मतुः॥७॥

तब चारो ओर घूमते हुए उदास लोगों से, जिनके चित्त दुःखी थे और आँखें आँसू से आकुल थीं, मानो मना किये जाने पर भी वे दोनों धीरे धीरे उस नगर में गये जो मृत-स्नात (= किसी के मरने पर स्नान किये हुए पुरुष) के समान था॥७॥

निशाम्य च स्रस्तशरीरगामिनौ विनागतौ शाक्यकुलर्षभेण तौ।
मुमोच बाष्पं पथि नागरो जनः पुरा रथे दाशरथेरिवागते॥८॥

शिथिल शरीरों से जानेवाले वे दोनों शाक्य-कुल-ऋषभ के बिना ही आये, यह सुन कर नगर की जनता ने मार्ग में आँसू बहाये, जैसे प्राचीन काल में राम का रथ (वन से खाली लौट) आने पर (आँसू बहाये थे)॥८॥

अथ ब्रुवन्तः समुपेतमन्यवो जनाः पथि च्छन्दकमागताश्रवः।
क्व राजपुत्रः पुरराष्ट्रनन्दनो हृतस्त्वयासाविति पृष्ठतोऽन्वयुः॥९॥

तब शोकित लोग, जिन्हें आँसू आ गये थे, रास्ते में छन्दक से कहने लगे— "नगर व राष्ट्र को आनन्दित करनेवाला राज-पुत्र कहाँ है?

तुमने उसका हरण किया है।" इस तरह कहते हुए वे उसके पीछे पीछे चले ॥ ९ ॥

ततः स तान् भक्तिमतोऽब्रवीज्जनान्नरेन्द्रपुत्रं न परित्यजाम्यहम् ।
रुदन्नहं तेन तु निर्जने वने गृहस्थवेशश्च विसर्जिताविति ॥१०॥

तब उसने उन भक्त लोगों से कहा— "मैंने राजा के पुत्र को नहीं छोड़ा; किन्तु निर्जन वन में उसने ही मुझ रोते हुए को और अपने गृहस्थ-वेश को विसर्जित किया ॥ १० ॥

इदं वचस्तस्य निशम्य ते जनाः सुदुष्करं खल्विति निश्चयं ययुः ।
पतद्धि जहुः सलिलं न नेत्रजं मनो निनिन्दुश्च फलोत्थमात्मनः ॥११॥

उसका यह वचन सुनकर, उन लोगों ने विचारा—"निश्चय ही (राजकुमार का) यह दुष्कर काम है।" वे अपने आँसू रोक नहीं सके और आत्मा के फल से उत्पन्न अपनी मानसिक स्थिति की उन्होंने निन्दा की ॥ ११ ॥

अथोचुरद्यैव विशाम तद्वनं गतः स यत्र द्विपराजविक्रमः ।
जिजीविषा नास्ति हि तेन नो विना यथेन्द्रियाणां विगमे शरीरिणाम् १२

तब वे बोले—"आज ही हम उस वन में जा रहे हैं जहाँ वह सिंह-गति (राजकुमार) गया है। उसके विना हमारी जीने की इच्छा नहीं है, जैसे इन्द्रियों के नष्ट होने पर देह-धारियों की (जीने की इच्छा नहीं होती) ॥ १२ ॥

इदं पुरं तेन विवर्जितं वनं वनं च तत्तेन समन्वितं पुरम् ।
न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम् ॥१३॥

उससे रहित यह नगर वन है और उससे युक्त वह वन नगर; क्योंकि उसके विना हमारा नगर उसी प्रकार शोभित नहीं है, जिस प्रकार वृत्र-वध के समय इन्द्र के विना स्वर्ग ॥ १३ ॥

पुनः कुमारो विनिवृत्त इत्यथो गवाक्षमालाः प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः ।
विविक्तपृष्ठं च निशाम्य वाजिनं पुनर्गवाक्षाणि पिधाय चुक्रुशुः ॥१४॥

"कुमार फिर लौट आये हैं" यह सोचकर स्त्रियाँ खिड़कियों के सामने आ गईं; और घोड़े की पीठ खाली देखकर फिर खिड़कियों को बन्द कर वे रोने लगीं ॥ १४ ॥

प्रविष्टदीक्षस्तु सुतोपलब्धये व्रतेन शोकेन च खिन्नमानसः ।
जजाप देवायतने नराधिपश्चकार तास्ताश्च यथाशयाः क्रियाः ॥१५॥

पुत्र की प्राप्ति के लिए दीक्षा ग्रहण कर, व्रत व शोक से खिन्नचित्त राजा ने देव-मन्दिर में जप किया और अपने आशय के अनुरूप भाँति-भाँति की क्रियाएँ कीं ॥ १५ ॥

ततः स बाष्पप्रतिपूर्णलोचनस्तुरङ्गमादाय तुरङ्गमानुगः ।
विवेश शोकाभिहतो नृपक्षयं युधापिनीते रिपुणेव भर्तरि ॥१६॥

तब आँसू-भरी आँखों से उस अश्वरक्षक ने घोड़े को लिवाते हुए कातर होकर राज-महल में प्रवेश किया, जैसे योद्धा शत्रु के द्वारा उसके स्वामी का अपहरण कर लिया गया हो ॥ १६ ॥

विगाहमानश्च नरेन्द्रमन्दिरं विलोकयन्नश्रुवहेन चक्षुपा ।
स्वरेण पुष्टेन रुराव कन्थको जनाय दुःखं प्रतिवेदयन्निव ॥१७॥

राज-महल में प्रवेश करता हुआ, आँसू-भरी आँखों से देखता हुआ कन्थक जोर से हिनहिनाया, मानो लोगों से वह (अपना) दुःख निवेदन कर रहा हो ॥ १७ ॥

ततः खगाश्च क्षयमध्यगोचराः समीपबद्धास्तुरगाश्च सत्कृताः ।
हयस्य तस्य प्रतिसस्वनुः स्वनं नरेन्द्रसूनोरुपयानशङ्किनः ॥१८॥

तब महल के बीच रहनेवाले पक्षियों ने और समीप में बँधे हुए सत्कृत (=प्रिय) घोड़ों ने उस घोड़े के हिनहिनाने के प्रति शब्द किया, यह जानकर कि शायद राजकुमार आ रहा है ॥ १८ ॥

जनाश्च हर्षातिशयेन वञ्चिता जनाधिपान्तःपुरसंनिकर्षगाः ।
यथा हयः कन्थक एष हेषते ध्रुवं कुमारो विशतीति मेनिरे ॥१९॥

"यह कन्थक घोड़ा जिस प्रकार हिनहिना रहा है, इससे यह प्रकट

है कि कुमार निश्चय ही प्रवेश कर रहा है"—ऐसा मानकर राजा के अन्तःपुर के समीप जानेवाले लोग अतिशय हर्ष से उछलने लगे।" ॥१९॥

अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिताः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः ।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्चलाः ॥२०॥

शोक से मूर्छित स्त्रियाँ अति प्रसन्न हुईं। कुमार को देखने की लालसा से उनकी आखें चञ्चल थीं; आशा के साथ वे घर से निकल आईं, जैसे शरत्काल के बादल से चपल बिजली (निकल आवे) ॥ २० ॥

विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेक्षणैर्मुखैः ।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया विनाकृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥२१॥

उनके केशपाश लटक रहे थे, बारीक कपड़े मलिन थे, मुखों में अंजन नहीं थी, आँखें आँसुओं से आकुल थीं; सिंगार किये विना स्त्रियाँ शोभित नहीं हुईं, जैसे रात बीतने पर आकाश में फीके तारे ॥ २१ ॥

अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखैः ।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनैः ॥२२॥

उनके पाँव महावर से रँगे नहीं थे, उनमें नूपुर भी नहीं थे, मुख (कानों के) कुण्डलों से रहित थे, गले अनलंकृत थे, स्वभाव से मोटी जाँघें मेखला-रहित थीं, हार व योक्त्र (=सूत्र ?) से रहित स्तन लुटे-से थे ॥ २२ ॥

निरीक्ष्य ता बाष्पपरीतलोचना निराश्रयं छन्दकमश्वमेव च ।
विषण्णवक्त्रा रुरुदुर्वराङ्गना वनान्तरे गाव इवर्षभोज्झिताः ॥२३॥

अश्रु-पूर्ण आँखों से छन्दक और घोड़े को स्वामी के विना देखकर वे उत्तम स्त्रियाँ विषण्णवदन होकर रोईं, जैसे वन के भीतर साँड़ से परित्यक्त गाएँ ॥ २३ ॥

ततः सबाष्पा महिषी महीपतेः प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सला ।
प्रगृह्य बाहू निपपात गौतमी विलोलपर्णा कदलीव काञ्चनी ॥२४॥

तब रोती हुई राजा की पटरानी गौतमी, जो उस महिषी के समान

(अपने पुत्र के लिए) वत्सल थी जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, भुजाएँ फेंक कर, हिलते पत्तोंवाली सोने की कदली के समान गिर पड़ी ॥२४॥

हतत्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नाश्रु जहुर्न शश्वसुर्न चेलुरासुर्लिखिता इव स्थिताः ॥२५॥

अन्य निष्प्रभ स्त्रियों ने, जिनके कन्धे व भुजाएँ शिथिल थीं, विषाद से मानो बेहोश होकर न विलाप किया, न आँसू बहाये, न साँसें लीं, और न हिली-डुलीं ही ; केवल चित्रित-सी खड़ी रहीं ॥ २५ ॥

अधीरमन्याः पतिशोकमूर्छिता विलोचनप्रस्रवणैर्मुखैः स्त्रियः ।
सिषिञ्चिरे प्रोषितचन्दनान् स्तनान्धराधरः प्रस्रवणैरिवोपलान् २६

दूसरी स्त्रियों ने, जो अधीर होकर पति के शोक से मूर्छित थीं, नेत्र-निर्झर मुखों से चन्दन-शून्य स्तनों को सींचा, जैसे पर्वत अपने झरनों से शिलाओं को (सींचता है) ॥ २६ ॥

मुखैश्च तासां नयनाम्बुताडितै रराज तद्राजनिवेशनं तदा ।
नवाम्बुकालेऽम्बुदवृष्टिताडितैः स्रवज्जलैस्तामरसैर्यथा सरः ॥२७॥

तब उनके अश्रुपूर्ण मुखों से वह राज-भवन वैसे ही शोभित हुआ, जैसे कि सरोवर, जो वर्षा के आरम्भ में वृष्टि-जल से ताड़ित हुए जल-स्रावी कमलों से भरा हो ॥ २७ ॥

सुवृत्तपीनाङ्गुलिभिर्निरन्तरैरभूषणैर्गूढसिरैर्वराङ्गनाः ।
उरांसि जघ्नुः कमलोपमैः करैः स्वपल्लवैर्वातचला लता इव ॥२८॥

उत्तम स्त्रियों ने गोल, मोटी व सटी अंगुलियोंवाले कमलोपम करों से, जो भूषण-रहित थे और जिनकी सिराएँ छिपी हुई थीं, छाती पीटी, जैसे हवा से हिलती लताएँ अपने पल्लवों से (अपने को ही पीटती हैं) ॥ २८ ॥

करप्रहारप्रचलैश्च ता बभुस्तथापि नार्यः सहितोन्नतैः स्तनैः ।
वनानिलाघूर्णितपद्मकम्पितै रथाङ्गनाम्नां मिथुनैरिवापगाः ॥२९॥

हाथों की चोटों से हिलते हुए कठोर व उन्नत स्तनोंवाली वे स्त्रियाँ

उन नदियों के समान शोभित हुईं जिनके चक्रवाक-युगल जंगल की हवा से हिलाये गये कमलों से काँप रहे हों ॥ २९ ॥

यथा च वक्षांसि करैरपीडयंस्तथैव वक्षोभिरपीडयन् करान् ।
अकारयंस्तत्र परस्परं व्यथाः कराग्रवक्षांस्यबला दयालसाः ॥३०॥

और जैसे हाथों से छातियों को पीड़ित किया, वैसे ही छातियों से भी हाथों को पीड़ित किया। निर्दय होकर अबलाओं ने हाथों व छातियोंद्वारा एक दूसरे को व्यथित कराया ॥ ३० ॥

ततस्तु रोषप्रविरक्तलोचना विषादसंबन्धिकषायगद्गदम् ।
उवाच निश्वासचलत्पयोधरा विगाढशोकाश्रुधरा यशोधरा ॥३१॥

तब रोष से लाल आँखोंवाली, साँसों से हिलते स्तनोंवाली गाढ़ शोक से आँसू बहानेवाली यशोधरा ने विषाद-सम्बन्धी कसैलेपन (=कटुता) से गद्गद होकर कहाः— ॥ ३१ ॥

निशि प्रसुप्तामवशां विहाय मां गतः क्व स च्छन्दक मन्मनोरथः ।
उपागते च त्वयि कन्थके च मे समं गतेषु त्रिषु कम्पते मनः ॥३२॥

"रात को सोई हुई मुझ विवश को छोड़कर, हे छन्दक, मेरा वह मनोरथ कहाँ गया ? तीनों साथ गये थे, और कन्थक व तुम आ गये, मेरा मन काँप रहा है ॥ ३२ ॥

अनार्यमस्निग्धममित्रकर्म मे नृशंस कृत्वा किमिहाद्य रोदिषि ।
नियच्छ बाष्पं भव तुष्टमानसो न संवदत्यश्रु च तच्च कर्म ते ॥३३॥

मेरे लिए अनार्य, अस्निग्ध और शत्रुतापूर्ण काम करके, हे क्रूर, क्यों आज यहाँ रो रहे हो ? आँसू रोको, संतुष्टचित्त होओ, आँसू और तुम्हारा वह काम (परस्पर) मेल नहीं खाते ॥ ३३ ॥

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थकारिणा ।
गतोऽर्यपुत्रो ह्यपुनर्निवृत्तये रमस्व दिष्ट्या सफलः श्रमस्तव ॥३४॥

प्रिय, वशवर्ती, हित, साधु और यथार्थ-कारी तुझ साथी के साथ

आर्यपुत्र गये, फिर लौटने के लिए नहीं। आनन्द करो, सौभाग्य से तुम्हारा श्रम सफल (हुआ) ॥ ३४ ॥

वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम् ।
सुहृद्ब्रुवेण ह्यविपश्चिता त्वया कृतः कुलस्यास्य महानुपप्लवः ॥३५॥

मनुष्य का चतुर शत्रु अच्छा है, न कि मूर्ख मित्र जो वियोग (कराने) में निपुण होता है। मित्र कहे जानेवाले तुझ मूर्ख ने इस कुल का बड़ा ही अनर्थ किया ॥ ३५ ॥

इमा हि शोच्या व्यवमुक्तभूषणाः प्रसक्तबाष्पाविलरक्तलोचनाः ।
स्थितेऽपि पत्यौ हिमवन्महीसमे प्रनष्टशोभा विधवा इव स्त्रियः ॥३६॥

हिमालय और पृथिवी के समान (धैर्यशाली) स्वामी के रहने पर भी, विधवाओं के सदृश शोभा-हीन हुई ये स्त्रियाँ दयनीय हैं, जिन्होंने गहने फेंक दिये हैं और जिनकी आँखें निरन्तर बहते अश्रु-जल से मलिन और लाल हैं ॥ ३६ ॥

इमाश्च विक्षिप्तविटङ्कबाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिस्वनाः ।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तयः ॥३७॥

और कपोत-पालिका रूपी भुजाएँ फैलाये हुए ये प्रासाद-पङ्क्तियाँ, जो आसक्त कपोलों से लम्बी साँसें ले रही हैं, रनिवासों के साथ उनके वियोग में मानो खूब रो रही हैं ॥ ३७ ॥

अनर्थकामोऽस्य जनस्य सर्वथा तुरङ्गमोऽपि ध्रुवमेष कन्थकः ।
जहार सर्वस्वमितस्तथा हि मे जने प्रसुप्ते निशि रत्नचौरवत् ॥३८॥

निश्चय ही यह कन्थक घोड़ा भी इस व्यक्ति के अनर्थ का सर्वथा इच्छुक था; क्योंकि लोगों के सोये रहने पर रात में रत्न-चोर के समान इसने मेरे सर्वस्व का यहाँ से उस प्रकार हरण किया ॥ ३८ ॥

---

३५ "अयोग-पेशल" का दूसरा अर्थ होगा—"अनुचित करने में निपुण।"

यदा समर्थः खलु सोढुमागतानिषुप्रहारानपि किं पुनः कशाः ।
गतः कशापातभयात्कथं न्वयं श्रियं गृहीत्वा हृदयं च मे समम् ॥३९॥

जब तीरों के आये हुए प्रहार सहने में वह समर्थ है, कोड़ों का क्या कहना, तब कोड़े पड़ने के भय से यह मेरे हृदय और सौभाग्य को साथ लेकर कैसे गया ? ॥ ३९ ॥

अनार्यकर्मा भृशमद्य हेषते नरेन्द्रधिष्ण्यं प्रतिपूरयन्निव ।
यदा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियं तदा हि मूकस्तुरगाधमोऽभवत् ॥४०॥

(यह) अनार्यकर्मा आज खूब हिनहिना रहा है, मानो राज भवन को भर रहा हो । किंतु जब मेरे प्रिय को ले जा रहा था, तब यह अधम अश्व गूँगा हो गया था ॥ ४० ॥

यदि ह्यहेषिष्यत बोधयन् जनं खुरैः क्षितौ वाप्यकरिष्यत ध्वनिम् ।
हनुस्वनं वाजनिष्यदुत्तमं न चाभविष्यन्मम दुःखमीदृशम् ॥४१॥

यदि हिनहिना कर लोगों को जगाता, या खुरों से पृथिवी पर शब्द करता, या जबड़ों से जोरों का शब्द करता, तो मुझे ऐसा दुःख न होता" ॥४१॥

इतीह देव्याः परिदेविताश्रयं निशम्य बाष्पग्रथिताक्षरं वचः ।
अधोमुखः साश्रुकलः कृताञ्जलिः शनैरिदं छन्दक उत्तरं जगौ ॥४२॥

देवी का यह शोक-मूलक वचन, जिसके अक्षर आँसुओं से ग्रथित थे, सुनकर अधोमुख छन्दक ने, रोते हुए, हाथ जोड़कर, धीरे धीरे, यह उत्तर दियाः—॥ ४२ ॥

विगर्हितुं नार्हसि देवि कन्थकं न चापि रोषं मयि कर्तुमर्हसि ।
अनागसौ स्वः समवेहि सर्वशो गतो नृदेवः स हि देवि देववत् ॥४३॥

"हे देवि, आपको न कन्थक की निन्दा करनी चाहिए और न मुझ पर ही रोष करना चाहिए । हम दोनों को सर्वथा निर्दोष समझिये, वह नर-देव देवता के समान गये ॥ ४३ ॥

अहं हि जानन्नपि राजशासनं बलात्कृतः कैरपि दैवतैरिव ।
उपानयं तूर्णमिमं तुरङ्गमं तथान्वगच्छं विगतश्रमोऽध्वनि ॥४४॥

यद्यपि मैं राजा की आज्ञा जानता था, तो भी मानो किन्हीं देवताओं ने मुझसे बलात् कराया। जल्दी से मैं इस घोड़े को समीप ले आया। मार्ग में बिना थके ही उस प्रकार उसके पीछे-पीछे गया ॥ ४४ ॥

व्रजन्नयं वाजिवरोऽपि नास्पृशन्महीं खुराग्रैर्विधृतैरिवान्तरा।
तथैव दैवादिव संयताननो हनुस्वनं नाकृत नाप्यहेषत ॥४५॥

जाते हुए इस अश्व-श्रेष्ठ ने भी खुरों के अग्रभाग से, जो मानो बीच ही में पकड़े हुए थे, धरती का स्पर्श नहीं किया। उसी प्रकार मानो दैव-वश संयत-मुख होकर न जबड़ों से शब्द किया और न हिनहिनाया ॥४५॥

यतो बहिर्गच्छति पार्थिवात्मजे तदाभवद्द्वारमपावृतं स्वयम्।
तमश्च नैशं रविणेव पाटितं ततोऽपि दैवो विधिरेप गृह्यताम् ॥४६॥

क्योंकि जब राजा का पुत्र बाहर जा रहा था, तब द्वार आप ही आप खुल गया और रात्रि का अन्धकार दूर हो गया, जैसे सूर्यद्वारा विदीर्ण हुआ हो, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥ ४६ ॥

यदप्रमत्तोऽपि नरेन्द्रशासनाद्गृहे पुरे चैव सहस्रशो जनः।
तदा स नाबुध्यत निद्रया हृतस्ततोऽपि दैवो विधिरेप गृह्यताम् ॥४७॥

क्योंकि राजा की आज्ञा से सावधान रहने पर भी महल और नगर में हजार हजार लोग नहीं जागे, नींद से अभिभूत थे, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥ ४७ ॥

यतश्च वासो वनवाससंमतं निसृष्टमस्मै समये दिवौकसा।
दिवि प्रविद्धं मुकुटं च तद्धृतं ततोऽपि दैवो विधिरेप गृह्यताम् ॥४८॥

और क्योंकि वन-वास-योग्य वस्त्र देवता ने उन्हें समय पर दिया और आकाश में फेंका गया वह मुकुट पकड़ा गया, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

तदेवमावां नरदेवि दोषतो न तत्प्रयातं प्रति गन्तुमर्हसि।
न कामकारो मम नास्य वाजिनः कृतानुयात्रः स हि दैवतैर्गतः ॥४९॥

इसलिए, हे नर-देवि, इनके जाने के बारे में आपको हमें दोषी नहीं

समझना चाहिए। न मेरी इच्छा से (कुछ) हुआ और न इस घोड़े की इच्छा से ही। देवों से अनुसृत होकर वह गये" ॥ ४९ ॥

इति प्रयाणं बहुदेवमद्भुतं निशम्य तास्तस्य महात्मनः स्त्रियः ।
प्रनष्टशोका इव विस्मयं ययुर्मनोज्वरं प्रव्रजनात्तु लेभिरे ॥५०॥

इस तरह उस महात्मा का अनेक देवों से युक्त अद्भुत प्रयाण सुनकर वे स्त्रियाँ विस्मित हुईं, जैसे उनका शोक नष्ट हो गया हो ; किंतु उसके प्रव्रज्या ग्रहण करने से उन्हें मानसिक ताप हुआ ॥ ५० ॥

विषादपारिप्लवलोचना ततः प्रनष्टपोता कुररीव दुःखिता ।
विहाय धैर्यं विरुराव गौतमी तताम चैवाश्रुमुखी जगाद च ॥५१॥

तब विषाद से चञ्चल आँखोंवाली दुःखित गौतमी धैर्य छोड़कर उस कुररी के समान रोई, जिसके बच्चे नष्ट हो गये हों। वह मूर्छित हुई और रोती हुई बोलीः—॥ ५१ ॥

महोर्मिमन्तो मृदवोऽसिताः शुभाः पृथक्पृथङ्मूलरुहाः समुद्गताः ।
प्रवेरितास्ते भुवि तस्य मूर्धजा नरेन्द्रमौलीपरिवेष्टनक्षमाः ॥५२॥

"क्या उसके वे अत्यन्त तरंगित कोमल काले और मङ्गलमय केश, जो पृथक् पृथक् मूल से उत्पन्न होकर ऊपर उठे थे और जो राजमुकुट के परिवेष्टन के योग्य थे, पृथिवी पर गिराये गये ?

प्रलम्बबाहुर्मृगराजविक्रमो महर्षभाक्षः कनकोज्ज्वलद्युतिः ।
विशालवक्षा घनदुन्दुभिस्वनस्तथाविधोऽप्याश्रमवासमर्हति ॥५३॥

उसकी भुजाएँ लम्बी हैं, मृगराज की सी गति है, महा वृषभ की सी आँखें हैं। सोने की सी उज्ज्वल द्युति है, वक्षःस्थल विशाल है, मेघरूपी दुन्दुभि की सी ध्वनि है ; क्या ऐसा (कुमार) भी आश्रम-वास के योग्य है ? ॥ ५३ ॥

अभागिनी नूनमियं वसुंधरा तमार्यकर्माणमनुत्तमं पतिम् ।
गतस्ततोऽसौ गुणवान् हि तादृशो नृपः प्रजाभाग्यगुणैः प्रसूयते ॥५४॥

निश्चय ही वह आर्यकर्मा अद्वितीय पति इस वसुधरा के भाग में

नहीं है, इसीलिए तो वह चला गया। ऐसा गुणवान् राजा प्रजा के सौभाग्य से ही जन्म लेता है ॥ ५४ ॥

सुजातजालावतताङ्गुली मृदू निगूढगुल्फौ बिसपुष्पकोमलौ ।
वनान्तभूमिं कठिनां कथं नु तौ सचक्रमध्यौ चरणौ गमिष्यतः ॥५५॥

वे मृदु चरण—जिनकी अंगुलियों पर सुन्दर (रेखा-) जाल बिछा हुआ है, जिनकी पाद-ग्रन्थियाँ छिपी हुई हैं, जो कमल-तन्तु या फूल के समान कोमल हैं, जिनके मध्य भाग में चक्र हैं—वन की कठिन भूमि पर कैसे चलेंगे ? ॥ ५५ ॥

विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवस्त्रागुरुचन्दनार्चितम् ।
कथं नु शीतोष्णजलागमेषु तच्छरीरमोजस्वि वने भविष्यति ॥५६॥

महल की छत पर के शयन और आसन से परिचित वह ओजस्वी शरीर, जो बहुमूल्य वस्त्र, अगुरु और चन्दन से पूजित (=अलङ्कृत) हुआ है, जाड़े गर्मी व वर्षा में वन में कैसे रहेगा ? ॥ ५६ ॥

कुलेन सत्त्वेन बलेन वर्चसा श्रुतेन लक्ष्म्या वयसा च गर्वितः ।
प्रदातुमेवाभ्युचितो न याचितुं कथं स भिक्षां परतश्चरिष्यति ॥५७॥

कुल, सत्त्व, बल, रूप, विद्या, लक्ष्मी और वयस (=यौवन) से गौरवान्वित के लिए देना ही उचित है न कि मांगना; कैसे वह दूसरों से भिक्षा मांगेगा ? ॥ ५७ ॥

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः ।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥५८॥

वह सोने की पवित्र शय्या पर सोता था और रात के अन्त में तूर्य की ध्वनि से जगाया जाता था; मेरा वह व्रती कपड़े के एक छोर से ढकी धरती पर आज कैसे सोयेगा ?" ॥ ५८ ॥

इमं प्रलापं करुणं निशम्य ता भुजैः परिष्वज्य परस्परं स्त्रियः ।
विलोचनेभ्यः सलिलानि तत्यजुर्मधूनि पुष्पेभ्य इवेरिता लताः ॥५९॥

यह करुण प्रलाप सुनकर, उन स्त्रियों ने भुजाओं से एक दूसरे का

आलिङ्गन कर आँखों से आँसू बहाये, जैसे कम्पित लताएँ (अपने) फूलों से मधु (बहावे) ॥ ५९ ॥

ततो धरायामपतद्यशोधरा विचक्रवाकेव रथाङ्गसाह्वया ।
शनैश्च तत्तद्विललाप विक्लवा मुहुर्मुहुर्गद्गदरुद्धया गिरा ॥६०॥

तब चक्रवाक से वियुक्त चक्रवाकी के समान यशोधरा धरती पर गिरी और विकल होकर बाष्प से बार बार रुकती वाणी में धीरे धीरे भाँति भाँति से विलाप किया:— ॥ ६० ॥

स मामनाथां सहधर्मचारिणीमपास्य धर्मं यदि कर्तुमिच्छति ।
कुतोऽस्य धर्मः सहधर्मचारिणीं विना तपो यः परिभोक्तुमिच्छति॥६१॥

"मुझ अनाथा सहधर्मचारिणी को छोड़कर यदि वह धर्म करना चाहते हैं, तो कहाँ से इन्हें धर्म होगा जो सहधर्मचारिणी के बिना ही तपस्या करना चाहते हैं ? ॥ ६१ ॥

शृणोति नूनं स न पूर्वपार्थिवान्महासुदर्शप्रभृतीन् पितामहान ।
वनानि पत्नीसहितानुपेयुपस्तथा हि धर्मं मदृते चिकीर्षति ॥६२॥

अवश्य ही उन्होंने प्राचीन राजाओं, महासुदर्श-आदि अपने पितामहों, के बारे में नहीं सुना है, जो पत्नी-सहित वन गये थे ; क्योंकि वह मेरे बिना इसी प्रकार धर्म करना चाहते हैं ॥ ६२ ॥

मखेषु वा वेदविधानसंस्कृतौ न दंपती पश्यति दीक्षितावुभौ ।
समं बुभुक्षू परतोऽपि तत्फलं ततोऽस्य जातो मयि धर्ममत्सरः ॥६३॥

या यज्ञों में वेद-विधान के अनुसार संस्कृत तथा दीक्षित उभय दम्पती को नहीं देख रहे हैं, जो कि परलोक में भी यज्ञ-फल का साथ ही उपभोग करना चाहते हैं; अतः मेरे धर्म से इन्हें द्वेष हो गया है ॥ ६३ ॥

ध्रुवं स जानन्मम धर्मवल्लभो मनः प्रियेर्ष्याकलहं मुहुर्मिथः ।
सुखं विभीर्मामपहाय रोषणां महेन्द्रलोकेऽप्सरसो जिघृक्षति ॥६४॥

निश्चय ही वह धर्म-वल्लभ मेरे मन को एकान्त में बार बार ईर्ष्यालु

और कलह-प्रिय जानकर सुख (न होने) के डर से मुझ कोपशीला को छोड़कर इन्द्र-लोक में अप्सरओं को पाना चाहते हैं ॥ ६४ ॥

इयं तु चिन्ता मम कीदृशं नु ता वपुर्गुणं बिभ्रति तत्र योषितः ।
वने यदर्थं स तपांसि तप्यते श्रियं च हित्वा मम भक्तिमेव च ॥६५॥

मेरी यह चिन्ता है कि वहाँ वे स्त्रियाँ कैसा उत्तम रूप धारण करती हैं, जिसके लिए लक्ष्मी और मेरी भक्ति को छोड़कर, वह वन में तप कर रहे हैं ॥ ६५ ॥

न खल्वियं स्वर्गसुखाय मे स्पृहा न तज्जनस्यात्मवतोऽपि दुर्लभम् ।
स तु प्रियो मामिह वा परत्र वा कथं न जह्यादिति मे मनोरथः॥६६॥

निश्चय ही स्वर्ग-सुख के लिए मेरी यह इच्छा नहीं है, वह सुख आत्मवान् जन (संयतात्मा) के लिए दुर्लभ नहीं; किंतु वह प्रिय इस लोक या परलोक में मुझे कैसे न छोड़ें, यही मेरा मनोरथ है ॥ ६६ ॥

अभागिनी यद्यहमायतेक्षणं शुचिस्मितं भर्तुरुदीक्षितुं मुखम् ।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितुः ॥६७॥

यदि लम्बी आँखोंवाले पवित्र मुसकानवाले स्वामि-मुख को देखना मेरे भाग में नहीं है, तो क्या मन्दभाग्य यह राहुल भी पिता की गोद में कदाचित् लोटने योग्य नहीं ? ॥ ६७ ॥

अहो नृशंसं सुकुमारवर्चसः सुदारुणं तस्य मनस्विनो मनः ।
कलप्रलापं द्विषतोऽपि हर्षणं शिशुं सुतं यस्त्यजतीदृशं बत ॥६८॥

अहो ! सुकुमार रूपवाले उस मनस्वी का मन कठोर और अति-दारुण है, जो शत्रुओं को भी हरसानेवाले तुतलाते हुए ऐसे बाल-सुत को छोड़ रहे हैं ॥ ६८ ॥

ममापि कामं हृदयं सुदारुणं शिलामयं वाप्ययसोऽपि वा कृतम् ।
अनाथवच्छ्रीरहिते सुखोचिते वनं गते भर्तरि यन्न दीर्यते ॥६९॥

मेरा भी हृदय अतिदारुण है, पत्थर का बना है या लोहे का भी,

जो, सुख से परिचित स्वामी के श्री-रहित होकर अनाथ के समान वन जाने पर, विदीर्ण नहीं हो रहा है।" ॥ ६९ ॥

इतीह देवी पतिशोकमूर्छिता रुरोद दध्यौ विललाप चासकृत् ।
स्वभावधीरापि हि सा सती शुचा धृतिं न सस्मार चकार नो ह्रियम् ॥

इस तरह पति के शोक से मूर्छित होकर, देवी रोई, चिन्तित हुई, और बार बार विलाप किया। स्वभाव से धीर होने पर भी वह धैर्य भूल गई और लाज नहीं की ॥ ७० ॥

ततस्तथा शोकविलापविक्लवां यशोधरां प्रेक्ष्य वसुंधरागताम् ।
महारविन्दैरिव वृष्टिताडितैर्मुखैः सबाष्पैर्वनिता विचुक्रुशुः ॥७१॥

तब उस प्रकार शोक व विलाप से विह्वल यशोधरा को वसुन्धरा पर आई देखकर, वृष्टि-ताड़ित बड़े बड़े कमलों के समान साश्रु मुखों से वनिताओं ने क्रन्दन किया ॥ ७१ ॥

समाप्तजाप्यः कृतहोममङ्गलो नृपस्तु देवायतनाद्विनिर्ययौ ।
जनस्य तेनार्तरवेण चाहतश्चचाल वज्रध्वनिनेव वारणः ॥७२॥

जप समाप्त कर, मङ्गलमय हवन-कर्म करके, राजा देव-मन्दिर से बाहर आया और लोगों की उस आर्त ध्वनि से आहत होकर वैसे ही काँप उठा, जैसे वज्र के शब्द से हाथी ॥ ७२ ॥

निशाम्य च च्छन्दककन्थकावुभौ सुतस्य संश्रुत्य च निश्चयं स्थिरम् ।
पपात शोकाभिहतो महीपतिः शचीपतेर्वृत्त इवोत्सवे ध्वजः ॥७३॥

छन्दक व कन्थक दोनों को देख कर और पुत्र का दृढ़ निश्चय सुन कर, शोक से अभिभूत हो, राजा वैसे ही गिर पड़ा, जैसे उत्सव समाप्त होने पर इन्द्र की ध्वजा ॥ ७३ ॥

ततो मुहूर्तं सुतशोकमोहितो जनेन तुल्याभिजनेन धारितः ।
निरीक्ष्य दृष्ट्या जलपूर्णया हयं महीतलस्थो विललाप पार्थिवः ॥७४॥

तब मुहूर्त भर पुत्र के शोक से वह मूर्छित रहा, तुल्य कुल के लोगों

ने उसे धारण किया; जल-पूर्ण दृष्टि से घोड़े को देख कर, पृथिवी पर पड़े हुए राजा ने विलाप कियाः—॥ ७४ ॥

बहूनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे महत्त्वया कन्थक विप्रियं कृतम् ।
गुणप्रियो येन वने स मे प्रियः प्रियोऽपि सन्नप्रियवत्प्रवेरितः ॥७५॥

"युद्ध में मेरे बहुतेरे प्रिय (काम) करके, हे कन्थक, तुमने बड़ा अप्रिय किया, जिसने मेरे उस गुण-प्रिय प्रिय को प्रिय होने पर भी अप्रिय के समान वन में फेंक दिया ॥ ७५ ॥

तदद्य मां वा नय तत्र यत्र स व्रज द्रुतं वा पुनरेनमानय ।
ऋते हि तस्मान्मम नास्ति जीवितं विगाढरोगस्य सदौषधादिव ॥७६॥

अतः आज मुझे वहाँ ले चलो जहाँ वह है; या जल्दी जाओ, फिर उसे ले आओ क्योंकि उसके बिना मेरा जीवन नहीं रहेगा, जैसे अच्छी ओषधि के बिना तीव्र रोगवाले का (जीवन नहीं रह सकता) ॥ ७६ ॥

सुवर्णनिष्ठीविनि मृत्युना हृते सुदुष्करं यन्न ममार संजयः ।
अहं पुनर्धर्मरतौ सुते गते मुमुक्षुरात्मानमनात्मवानिव ॥७७॥

सुवर्णनिष्ठीवी का मृत्युद्वारा हरण होने पर संजय (=सृञ्जय) नहीं मरा, यह अति दुष्कर हुआ; किंतु मैं, धर्म-रत पुत्र के चले जाने पर, असंयतात्मा के समान आत्मा (=प्राण) छोड़ने की इच्छा कर रहा हूँ ॥ ७७ ॥

विभोर्दशक्षत्रकृतः प्रजापतेः परापरज्ञस्य विवस्वदात्मनः ।
प्रियेण पुत्रेण सता विनाकृतं कथं न मुह्येद्धि मनो मनोरपि ॥७८॥

दस राज्यों के स्रष्टा, प्रभु, प्रजापति, पर व अपर को जाननेवाले, विवस्वान् के पुत्र, मनु का भी मन, अच्छे प्रिय पुत्र से वियुक्त होकर, कैसे मूर्छित न हो ? ॥ ७८ ॥

अजस्य राज्ञस्तनयाय धीमते नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्पृहा ।
गते वनं यस्तनये दिवं गतो न मोघबाष्पः कृपणं जिजीव ह ॥७९॥

राजा अज के बुद्धिमान् पुत्र, इन्द्र के मित्र, नराधिप (दशरथ)

से मुझे ईर्ष्या है, जो पुत्र के वन जाने पर स्वर्ग चले गये, व्यर्थ आँसू बहाते हुए दीन होकर जीवित नहीं रहे ॥ ७९ ॥

प्रचक्ष्व मे भद्र तदाश्रमाजिरं हृतस्त्वया यत्र स मे जलाञ्जलिः ।
इमे परीप्सन्ति हि तं पिपासवो ममासवः प्रेतगतिं यियासवः ॥८०॥

हे भद्र, मुझे वह आश्रम-स्थान बताओ जहाँ तुम मेरी उस जलाञ्जलि (= जलाञ्जलि देनेवाले) को ले गये हो; क्योंकि प्रेत-गति को जाने की (= मरने की) इच्छा करनेवाले मेरे ये प्यासे प्राण उसे पाना चाहते हैं।" ॥ ८० ॥

इति तनयवियोगजातदुःखः क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम् ।
दशरथ इव रामशोकवश्यो बहु विललाप नृपो विसंज्ञकल्पः ॥८१॥

इस तरह पुत्र के वियोग से दुःखी होकर धरती की-सी स्वाभाविक धीरता को छोड़कर, राम के शोक से परतंत्र दशरथ के समान, राजा ने मानो अचेत होकर बहुत विलाप किया ॥ ८१ ॥

श्रुतविनयगुणान्वितस्ततस्तं मतिसचिवः प्रवयाः पुरोहितश्च ।
समधृतमिदमूचतुर्यथावन्न च परितप्तमुखौ न चाप्यशोकौ ॥८२॥

तब विद्या, विनय व गुण से युक्त मंत्री तथा प्रौढ़ पुरोहित ने, न संतप्तमुख होकर और न शोक-रहित होकर, तुल्य जन से धारण किये गये राजा को ठीक ठीक यों कहाः—॥ ८२ ॥

त्यज नरवर शोकमेहि धैर्यं कुधृतिरिवार्हसि धीर नाश्रु मोक्तुम् ।
स्रजमिव मृदितामपास्य लक्ष्मीं भुवि बहवो नृपा वनान्यतीयुः ॥८३॥

"हे नर-श्रेष्ठ शोक छोड़िये, धैर्य धारण कीजिए। हे धीर, अधीर के समान आपको आँसू न बहाना चाहिए। रौंदी गई माला के समान लक्ष्मी को छोड़कर, (इस) पृथ्वी पर बहुत से राजा वन चले गये ॥८३॥

अपि च नियत एष तस्य भावः स्मर वचनं तदृषेः पुरासितस्य ।
न हि स दिवि न चक्रवर्तिराज्ये क्षणमपि वासयितुं सुखेन शक्यः ॥८४॥

और भी, उसका यह भाव तो नियत ही था; पूर्व के असित ऋषि

का वह वचन स्मरण कीजिए। न स्वर्ग में, न चक्रवर्त्तिराज्य में क्षण भर के लिए भी वह सुख से रखा जा सकता है ॥ ८४ ॥

यदि तु नृवर कार्य एव यत्नस्त्वरितमुदाहर यावदत्र यावः ।
बहुविधमिह युद्धमस्तु तावत्तव तनयस्य विधेश्च तस्य तस्य ॥८५॥

हे नर-श्रेष्ठ, यदि यत्न करना ही है, तो तुरत कहिए, और हम वहाँ जायँ। तब आपके पुत्र और तरह तरह के उपाय के बीच भाँति भाँति का युद्ध हो" ॥ ८५ ॥

नरपतिरथ तौ शशास तस्माद्द्रुतमित एव युवामभिप्रयातम् ।
न हि मम हृदयं प्रयाति शान्तिं वनशकुनेरिव पुत्रलालसस्य ॥८६॥

इसलिए तब राजा ने उन्हें आज्ञा दी—"यहीं से आप दोनों शीघ्र चले जायँ। क्योंकि, मेरा हृदय, पुत्र के लिए उत्सुक वन-पक्षी के हृदय के समान, शान्ति नहीं पा रहा है" ॥ ८६ ॥

परममिति नरेन्द्रशासनात्तौ ययतुरमात्यपुरोहितौ वनं तत् ।
कृतमिति सवधूजनः सदारो नृपतिरपि प्रचकार शेषकार्यम् ॥८७॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविलापो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

"अच्छा" कहकर राजा की आज्ञा से मंत्री और पुरोहित दोनों ही उस वन को चले गये। "अच्छा ही किया गया", ऐसा समझकर (पुत्र-) वधुओं और पत्नियों के साथ राजा ने भी शेष कार्य किया ॥ ८७ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "अन्तःपुर-विलाप" नामक
आठवाँ सर्ग समाप्त।

नवाँ सर्ग

कुमार-अन्वेषण

ततस्तदा मन्त्रिपुरोहितौ तौ बाष्पप्रतोदाभिहतौ नृपेण ।
विद्धौ सदश्वाविव सर्वयत्नात्सौहार्दशीघ्रं ययतुर्वनं तत् ॥ १ ॥

तब उस समय मन्त्री और पुरोहित दोनों, राजा के द्वारा अश्रुरूप अङ्कुश से आहत होकर, विद्ध हुए अच्छे घोड़ों के समान समस्त यत्न से, सौहार्द के कारण वेग से उस वन को चले ॥ १ ॥

तमाश्रमं जातपरिश्रमौ तावुपेत्य काले सदृशानुयात्रौ ।
राजर्द्धिमुत्सृज्य विनीतचेष्टावुपेयतुर्भार्गवधिष्ण्यमेव ॥ २ ॥

समय पर योग्य अनुयायियों के साथ उस आश्रम के पास वे थके हुए पहुँचे। राज-ऋद्धि को छोड़, विनीत-चेष्ट हो, वे भार्गव के स्थान पर गये ॥ २ ॥

तौ न्यायतस्तं प्रतिपूज्य विप्रं तेनार्चितौ तावपि चानुरूपम् ।
कृतासनौ भार्गवमासनस्थं छित्त्वा कथामूचतुरात्मकृत्यम् ॥ ३ ॥

उन दोनों ने उस विप्र की उचित पूजा की और उसने उन दोनों की भी योग्य पूजा की। आसन ग्रहण कर, दोनों ने आसन पर स्थित भार्गव से कथा काटकर (=संक्षिप्त कर) अपना काम कहा:—॥ ३ ॥

शुद्धौजसः शुद्धविशालकीर्तेरिक्ष्वाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः ।
इमं जनं वेत्तु भवानधीतं श्रुतग्रहे मन्त्रपरिग्रहे च ॥ ४ ॥

"शुद्ध ओजवाले, शुद्ध व विशाल कीर्तिवाले, इक्ष्वाकु-वंश-प्रसूत राजा के इस व्यक्ति को (=हम दोनों को) आप शास्त्र और मंत्रणा में निपुण (=पुरोहित और मंत्री) जानें ॥ ४ ॥

तस्येन्द्रकल्पस्य जयन्तकल्पः पुत्रो जरामृत्युभयं तितीर्षुः ।
इहाभ्युपेतः किल तस्य हेतोरावामुपेतौ भगवानवैतु ॥ ५ ॥

उस इन्द्र-तुल्य का जयन्त-तुल्य पुत्र जरा और मृत्यु का भय पार करने की इच्छा से यहाँ आया है, इस हेतु हम दोनों आये हैं, ऐसा भगवान् जानें" ॥ ५ ॥

तौ सोऽब्रवीदस्ति स दीर्घबाहुः प्राप्तः कुमारो न तु नावबुद्धः ।
धर्मोऽयमावर्तक इत्यवेत्य यातस्त्वराडाभिमुखो मुमुक्षुः ॥ ६ ॥

उसने उन दोनों से कहा—"वह दीर्घबाहु आया था, कुमार है, किंतु बुद्धि-हीन नहीं। 'यह धर्म आवर्तक (=भ्रामक) है' ऐसा जानकर वह मुमुक्षु अराड (के आश्रम) की ओर चला गया।" ॥ ६ ॥

तस्मात्ततस्तावुपलभ्य तत्त्वं तं विप्रमामन्त्र्य तदैव सद्यः ।
खिन्नावखिन्नाविव राजभक्त्या प्रसस्रतुस्तेन यतः स यातः ॥ ७ ॥

तब उससे वे दोनों सच्ची बात जानकर, उस विप्र से उसी समय तुरत विदा लेकर, उस ओर चल पड़े जिधर वह गया था, खिन्न होकर भी राज-भक्ति के कारण वे मानो अ-खिन्न थे ॥ ७ ॥

यान्तौ ततस्तौ मृजया विहीनमपश्यतां तं वपुषोज्ज्वलन्तम् ।
उपोपविष्टं पथि वृक्षमूले सूर्यं घनाभोगमिव प्रविष्टम् ॥ ८ ॥

तब जाते हुए उन दोनों ने मार्जन-विहीन, किंतु रूप से जलते कुमार को देखा; रास्ते पर वृक्ष की जड़ में वह बैठा हुआ था, जैसे बादलों के फैलाव में सूर्य घुसा हुआ हो ॥ ८ ॥

यानं विहायोपययौ ततस्तं पुरोहितो मन्त्रधरेण सार्धम् ।
यथा वनस्थं सहवामदेवो रामं दिदृक्षुर्मुनिरौर्वशेयः ॥ ९ ॥

तब रथ छोड़ कर मंत्री के साथ पुरोहित उसके समीप गया, जैसे वन में स्थित राम के समीप वामदेव के साथ दर्शनाभिलाषी और्वशेय मुनि (=वसिष्ठ, गया था) ॥ ९ ॥

तावर्चयामासतुरर्हतस्तं दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रम् ।
प्रत्यर्चयामास स चार्हतस्तौ दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रः ॥१०॥

उन दोनों ने उसकी उचित पूजा की, जैसे स्वर्ग में शुक्र और आङ्गिरस (=बृहस्पति) ने इन्द्र की (पूजा की थी) और उसने उन दोनों की उचित पूजा की, जैसे स्वर्ग में इन्द्र ने शुक्र और अङ्गिरस की (पूजा की थी) ॥ १० ॥

कृताभ्यनुज्ञावभितस्ततस्तौ निषेदतुः शाक्यकुलध्वजस्य ।
विरेजतुस्तस्य च संनिकर्षे पुनर्वसू योगगताविवेन्दोः ॥११॥

आज्ञा पाकर, शाक्य-कुल की पताका (सिद्धार्थ) की दोनों ओर वे दोनों बैठ गये और उसके समीप ऐसे विराजे जैसे चन्द्रमा के समीप योग को प्राप्त पुनर्वसु-युगल ॥ ११ ॥

तं वृक्षमूलस्थमभिज्वलन्तं पुरोहितो राजसुतं बभाषे ।
यथोपविष्टं दिवि पारिजाते बृहस्पतिः शक्रसुतं जयन्तम् ॥१२॥

वृक्ष-मूल में स्थित उस जलते हुए राज-पुत्र से पुरोहित ने कहा, जैसे स्वर्ग में पारिजात वृक्ष के नीचे बैठे हुए शक्र-पुत्र जयन्त से बृहस्पति (कह रहा हो):—॥ १२ ॥

त्वच्छोकशल्ये हृदयावगाढे मोहं गतो भूमितले मुहूर्तम् ।
कुमार राजा नयनाम्बुवर्षो यत्त्वामवोचत्तदिदं निबोध ॥१३॥

"तुम्हारा शोकरूप शल्य हृदय में गड़ने पर, भूतल पर मुहूर्त भर मूर्छित होकर, हे कुमार, राजा ने नयन-जल बरसाते हुए, तुम्हें जो कहा है वह यह है, सुनोः—॥ १३ ॥

जानामि धर्मं प्रति निश्चयं ते परैमि ते भाविनमेतमर्थम् ।
अहं त्वकाले वनसंश्रयात्ते शोकाग्निनाग्निप्रतिमेन दह्ये ॥१४॥

"धर्म के प्रति तुम्हारा निश्चय जानता हूँ, समझता हूँ कि यह तुम्हारा भावी लक्ष्य है; किन्तु असमय में तुम वन का आश्रय ले रहो हो, अतः अग्नि तुल्य शोकाग्नि से मैं जल रहा हूँ ॥ १४ ॥

तदेहि धर्मप्रिय मत्प्रियार्थं धर्मार्थमेव त्यज बुद्धिमेताम्।
अयं हि मा शोकरयः प्रवृद्धो नदीरयः कूलमिवाभिहन्ति ॥१५॥

इसलिए, हे धर्म-प्रिय, मेरा प्रिय करने के लिए आओ, धर्म के लिए ही इस बुद्धि को छोड़ो। यह बढ़ा हुआ शोक का वेग मुझे वैसे ही मार रहा है, जैसे बढ़ा हुआ नदी का वेग किनारे को (काटता है) ॥ १५ ॥

मेघाम्बुकक्षाद्रिषु या हि वृत्तिः समीरणार्काग्निमहाशनीनाम्।
तां वृत्तिमस्मासु करोति शोको विकर्षणोच्छोषणदाहभेदैः ॥१६॥

मेघ, जल, तृण व पर्वत के प्रति (क्रमशः) पवन, सूर्य, अग्नि व महा-वज्र का जो काम होता है, विकर्षण शोषण दाह व भेदन-द्वारा वही काम हमारे प्रति शोक कर रहा है ॥ १६ ॥

तद्भुङ्क्ष्व तावद्वसुधाधिपत्यं काले वनं यास्यसि शास्त्रदृष्टे।
अनिष्टबन्धौ कुरु मय्यपेक्षां सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः ॥१७॥

इसलिए तब तक वसुधा के आधिपत्य का भोग करो, शास्त्र-सम्मत समय पर वन जाओगे। मुझ अवांछित पिता की आकांक्षा करो, क्योंकि सब भूतों पर दया (करना ही तो) धर्म है ॥ १७ ॥

न चैष धर्मो वन एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम्।
बुद्धिश्च यत्नश्च निमित्तमत्र वनं च लिङ्गं च हि भीरुचिह्नम् ॥१८॥

और, यह धर्म (केवल) वन में ही सिद्ध नहीं होता, नगर में भी यतियों (=संयमियों) की सिद्धि नियत है। इसमें बुद्धि और यत्न निमित्त हैं, वन और (भिक्षु-) वेष तो कायर के चिह्न हैं ॥ १८ ॥

मौलीधरैरंसविषक्तहारैः केयूरविष्टब्धभुजैर्नरेन्द्रैः।
लक्ष्म्यङ्कमध्ये परिवर्तमानैः प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ॥१९॥

मुकुट धारण करनेवाले राजाओं ने, जिनके कंधों से हार लटकते थे और जिनकी भुजाएँ केयूरों से बँधी थीं, गृहस्थ होकर भी (=घर में रह कर भी) लक्ष्मी की गोद में लोटते हुए मोक्ष-धर्म प्राप्त किया ॥ १९ ॥

१६—देखिये, सौ० सन्द ५९।

ध्रुवानुजौ यौ बलिवज्रबाहू वैभ्राजमाषाढमथान्तिदेवम् ।
विदेहराजं जनकं तथैव ❀❀ द्रुमं सेनजितश्च राज्ञः ।।२०।।

ध्रुव के जो दो छोटे भाई बलि और वज्रबाहु, वैभ्राज, आषाढ़ और अन्तिदेव, विदेह-राज जनक···द्रुम और सेनजित् राजागण ॥ २० ॥

एतान् गृहस्थान्नृपतीनवेहि नैःश्रेयसे धर्मविधौ विनीतान् ।
उभौऽपि तस्माद्युगपद्भजस्व ज्ञानाधिपत्यं च नृपश्रियं च ।।२१।।

विदित हो कि ये गृहस्थ राजा परम कल्याण-कारी धर्म विधि में शिक्षित थे । इसलिए एक ही साथ ज्ञान के आधिपत्य व राज्यलक्ष्मी दोनों का सेवन करो ॥ २१ ॥

इच्छामि हि त्वामुपगुह्य गाढं कृताभिषेकं सलिलार्द्रमेव ।
धृतातपत्रं समुदीक्षमाणस्तेनैव हर्षेण वनं प्रवेष्टुम् ।।२२।।

मैं चाहता हूँ कि अभिषेक करने पर जल से आर्द्र रहने पर ही तुम्हारा गाढ़ आलिङ्गन कर, छत्र के नीचे तुम्हें देखता हुआ उसी आनन्द से वन में प्रवेश करूँ" ॥ २२ ॥

इत्यब्रवीद्भूमिपतिर्भवन्तं वाक्येन बाष्पग्रथिताक्षरेण ।
श्रुत्वा भवानर्हति तत्प्रियार्थं स्नेहेन तत्स्नेहमनुप्रयातुम् ।।२३।।

राजा ने आपको ऐसा कहा; उसके वाक्य के अक्षर वाष्प से ग्रथित थे । यह सुनकर उसका प्रिय करने के लिए आपको स्नेहपूर्वक उसके स्नेह का अनुसरण करना चाहिए ॥ २३ ॥

शोकाम्भसि त्वत्प्रभवे ह्यगाधे दुःखार्णवे मज्जति शाक्यराजः ।
तस्मात्तमुत्तारय नाथहीनं निराश्रयं मग्नमिवार्णवे नौः ।।२४।।

तुमसे उत्पन्न अगाध दुःख-सागर में, जिसका जल शोक है, शाक्य-राज डूब रहा है । उससे उस नाथ-हीन को उबारो, जैसे सागर में डूबते हुए निराश्रय (व्यक्ति) को नाव (उबारती) है ॥ २४ ॥

२१—"वित्त" के स्थानमें "ज्ञान" रक्खा गया है ।

भीष्मेण गङ्गोदरसंभवेन रामेण रामेण च भार्गवेण ।
श्रुत्वा कृतं कर्म पितुः प्रियार्थं पितुस्त्वमप्यर्हसि कर्तुमिष्टम् ॥२५॥

गङ्गा के उदर से उत्पन्न भीष्म ने, राम ने, और भार्गव राम ने, पिता के प्रिय के लिए काम किया, यह सुन कर तुम्हें भी पिता का इष्ट करना चाहिए ॥ २५ ॥

संवर्धयित्रीं समवेहि देवीमगस्त्यजुष्टां दिशमप्रयाताम् ।
प्रनष्टवत्सामिव वत्सलां गामजस्रमार्तां करुणं रुदन्तीम् ॥२६॥

विदित हो कि संवर्धन करनेवाली देवी, जो (अब तक) अगस्त्य से सेवित दिशा को नहीं गई है (=नहीं मरी है), उस वत्सल गाय के समान, जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, आर्त और करुण होकर निरन्तर रो रही है ॥ २६ ॥

हंसेन हंसीमिव विप्रयुक्तां त्यक्तां गजेनेव वने करेणुम् ।
आर्तां सनाथामपि नाथहीनां त्रातुं वधूमर्हसि दर्शनेन ॥२७॥

हंस से वियुक्त हंसी के समान, हाथी से वन में परित्यक्त हथिनी के समान, आर्त पत्नी को, जो सनाथा होने पर भी अनाथा है, तुम्हें दर्शन देकर बचाना चाहिए ॥ २७ ॥

एकं सुतं बालमनर्हदुःखं संतापमन्तर्गतमुद्वहन्तम् ।
तं राहुलं मोक्षय बन्धुशोकाद्राहूपसर्गादिव पूर्णचन्द्रम् ॥२८॥

एकमात्र बाल-पुत्र, जो दुःख के योग्य नहीं है, भीतरी संताप वहन कर रहा है । उस राहुल को पितृ-शोक से मुक्त करो, जैसे राहु के ग्रहण से पूर्ण चन्द्र को (मुक्त किया जाय) ॥ २८ ॥

शोकाग्निना त्वद्विरहेन्धनेन निःश्वासधूमेन तमःशिखेन ।
त्वद्दर्शनाम्बिच्छति दह्यमानमन्तःपुरं चैव पुरं च कृत्स्नम् ॥२९॥

शोकरूप अग्नि से जिसका इन्धन तुम्हारा विरह है, जिसका धुआँ लम्बी साँसें हैं, जिसकी शिखा अन्धकार है, जलता हुआ अन्तःपुर और सम्पूर्ण नगर तुम्हारे दर्शन-जल की इच्छा कर रहे हैं ।" ॥ २९ ॥

स बोधिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः श्रुत्वा वचस्तस्य पुरोहितस्य ।
ध्यात्वा मुहूर्तं गुणवद्गुणज्ञः प्रत्युत्तरं प्रश्रितमित्युवाच ॥३०॥

उस पुरोहित का वचन सुन कर धैर्यशाली, गुणवान् व गुणज्ञ बोधिसत्व ने मुहूर्त भर ध्यान किया और विनय-युक्त यह उत्तर दिया:—॥ ३० ॥

अवैमि भावं तनये पितॄणां विशेषतो यो मयि भूमिपस्य ।
जानन्नपि व्याधिजराविपद्भ्यो भीतस्त्वगत्या स्वजनं त्यजामि ॥३१॥

"पुत्र के प्रति पिता का भाव जानता हूँ, विशेष कर मेरे प्रति राजा का जो (भाव) है, यह जानता हुआ भी मैं रोग बुढ़ापे व मौत से डरकर, (अन्य) उपाय के अभाव में स्वजन को छोड़ रहा हूँ ॥ ३१ ॥

द्रष्टुं प्रियं कः स्वजनं हि नेच्छेन्नान्ते यदि स्यात्प्रियविप्रयोगः ।
यदा तु भूत्वापि चिरं वियोगस्ततो गुरुं स्निग्धमपि त्यजामि ॥३२॥

यदि अन्त में वियोग न हो, तो प्यारे स्वजन को देखना कौन नहीं चाहेगा ? जब कि देर होकर भी वियोग होता ही है, इसलिए स्नेही पिता को भी छोड़ रहा हूँ ॥ ३२ ॥

मद्धेतुकं यत्तु नराधिपस्य शोकं भवानाह न तत्प्रियं मे ।
यत्स्वप्नभूतेषु समागमेषु संतप्यते भाविनि विप्रयोगे ॥३३॥

मेरे कारण हुआ राजा का शोक आपने जो कहा वह मुझे प्रिय नहीं; क्योंकि समागम स्वप्न-सदृश होने पर और वियोग अवश्यंभावी होने पर, वह संताप कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

एवं च ते निश्चयमेतु बुद्धिर्दृष्ट्वा विचित्रं जगतः प्रचारम् ।
संतापहेतुर्न सुतो न बन्धुरज्ञाननैमित्तिक एष तापः ॥३४॥

जगत् की विचित्र गति देखकर, आपकी बुद्धि इस प्रकार निश्चय करे—संताप का कारण न पुत्र है न पिता, इस संताप का निमित्त अज्ञान है ॥ ३४ ॥

यथाध्वगानामिह संगतानां काले वियोगो नियतः प्रजानाम् ।
प्राज्ञो जनः को नु भजेत शोकं बन्धुप्रतिज्ञातजनैर्विहीनः ॥३५॥

पथिकों के समान, इस संसार में, सम्मिलित हुए लोगों का वियोग नियत है; अतः बन्धु समझे जानेवाले लोगों से वियुक्त होकर कौन ज्ञानी जन शोक करे ॥ ३५ ॥

इहैति हित्वा स्वजनं परत्र प्रलभ्य चेहापि पुनः प्रयाति ।
गत्वापि तत्राप्यपरत्र गच्छत्येवं जने त्यागिनि कोऽनुरोधः ॥३६॥

पूर्व जन्म में स्वजन को छोड़ कर मनुष्य यहाँ आता है और फिर यहाँ भी (स्वजन को) ठग कर वह यहाँ से चला जाता है, वहाँ भी जाकर वहाँ से अन्यत्र चला जाता है; इस प्रकार परित्याग करनेवाले आदमी में आसक्ति क्यों की जाय ? ॥ ३६ ॥

यदा च गर्भात्प्रभृति प्रवृत्तः सर्वास्ववस्थासु वधाय मृत्युः ।
कस्मादकाले वनसंश्रयं मे पुत्रप्रियस्तत्रभवानवोचत् ॥३७॥

और जब गर्भ से लेकर सब अवस्थाओं में मौत मारने के लिए तैयार रहती है, तब क्यों पुत्र-प्रिय पूज्य (पिताजी) ने कहा कि मैं अकाल में वन का आश्रय ले रहा हूँ ? ॥ ३७ ॥

भवत्यकालो विषयाभिपत्तौ कालस्तथैवार्थविधौ प्रदिष्टः ।
कालो जगत्कर्षति सर्वकालान्निर्वाहके श्रेयसि नास्ति कालः ॥३८॥

विषय-सेवन के लिए अकाल होता है, उसी प्रकार धन (-अर्जन) के उपाय के लिए समय निर्दिष्ट है, सब समय में काल संसार को लाचार करता रहता है, मोक्ष-प्रद कल्याण के लिए (कोई निश्चित) समय नहीं है ॥ ३८ ॥

राज्यं मुमुक्षुर्मयि यच्च राजा तदप्युदारं सदृशं पितुश्च ।
प्रतिग्रहीतुं मम न क्षमं तु लोभादपथ्यान्नमिवातुरस्य ॥३९॥

मेरे ऊपर राजा राज्य छोड़ना चाहते हैं यह उदार है और पिता के सदृश है; किंतु मेरे लिए इसे ग्रहण करना ठीक नहीं, जैसे रोगी के लिए लोभ से अपथ्य अन्न ग्रहण करना ठीक नहीं ॥ ३९ ॥

कथं नु मोहायतनं नृपत्वं क्षमं प्रपत्तुं विदुषा नरेण ।
सोद्वेगता यत्र मदः श्रमश्च परापचारेण च धर्मपीडा ॥४०॥

किस प्रकार विद्वान् आदमी के लिए उस राजत्व का सेवन करना ठीक है, जो मोह का मन्दिर है, जहाँ उद्वेग मद व थकावट हैं, और जहाँ दूसरों पर अनाचार करने से धर्म में बाधा होती है ? ॥ ४० ॥

जाम्बूनदं हर्म्यमिव प्रदीप्तं विषेण संयुक्तमिवोत्तमान्नम् ।
ग्राहाकुलं चाम्ब्विव सारविन्दं राज्यं हि रम्यं व्यसनाश्रयं च ॥४१॥

सोने के जलते महल के समान, विष-युक्त उत्तम भोजन के समान, घड़ियालों से भरे कमल-युक्त जलाशय के समान, राज्य रमणीय है और विपत्तियों का आश्रय है ॥ ४१ ॥

इत्थं च राज्यं न सुखं न धर्मः पूर्वे यथा जातघृणा नरेन्द्राः ।
वयःप्रकर्षेऽपरिहार्यदुःखे राज्यानि मुक्त्वा वनमेव जग्मुः ॥४२॥

इस प्रकार, राज्य से न सुख होता है, न धर्म; पूर्व में घृणा उत्पन्न होने पर राजा लोग वृद्धावस्था में, जिसमें दुःख अवश्यंभावी है, राज्य छोड़ कर वन को ही गये ॥ ४२ ॥

वरं हि भुक्तानि तृणान्यरण्ये तोषं परं रत्नमिवोपगुह्य ।
सहोषितं श्रीसुलभैर्न चैव दोषैरदृश्यैरिव कृष्णसर्पैः ॥४३॥

जंगल में तृण खा कर मानो रत्न-स्पर्श का परम संतोष पाना अच्छा है, न कि श्री-सुलभ उन दोषों के साथ रहना जो कृष्ण-सर्पों के समान देखे जाने योग्य नहीं ॥ ४३ ॥

श्लाघ्यं हि राज्यानि विहाय राज्ञां धर्माभिलाषेण वनं प्रवेष्टुम् ।
भग्नप्रतिज्ञस्य न तूपपन्नं वनं परित्यज्य गृहं प्रवेष्टुम् ॥४४॥

राज्य छोड़कर धर्म की अभिलाषा से राजाओं का वन में प्रवेश करना श्लाघ्य है : किंतु प्रतिज्ञा तोड़ करके, वन छोड़कर, घर में प्रवेश करना उचित नहीं ॥ ४४ ॥

जातः कुले को हि नरः ससत्त्वो धर्माभिलाषेण वनं प्रविष्टः ।
काषायमुत्सृज्य विमुक्तलज्जः पुरंदरस्यापि पुरं श्रयेत ॥४५॥

(उत्तम) कुल में उत्पन्न हुआ कौन धैर्यशाली आदमी, जिसने धर्म की अभिलाषा से वन में प्रवेश किया है, काषाय छोड़, निर्लज्ज हो, इन्द्र के भी नगर में जायगा ? ॥ ४५ ॥

लोभाद्धि मोहादथवा भयेन यो वान्तमन्नं पुनराददीत ।
लोभात्स मोहादथवा भयेन संत्यज्य कामान् पुनराददीत ॥४६॥

लोभ से, मोह से अथवा भय से जो उगले हुए अन्न को फिर ग्रहण करेगा, वही लोभ से, मोह से अथवा भय से काम-भोगों को छोड़कर फिर ग्रहण करेगा ॥ ४६ ॥

यश्च प्रदीप्ताच्छरणात्कथंचिन्निष्क्रम्य भूयः प्रविशेत्तदेव ।
गार्हस्थ्यमुत्सृज्य स दृष्टदोषो मोहेन भूयोऽभिलषेद्ग्रहीतुम् ॥४७॥

और जो जलते घर से किसी प्रकार निकल कर फिर उसी में प्रवेश करे, वही मनुष्य, दोष देख कर गार्हस्थ्य (=घर में रहना) छोड़ने के बाद, मोह से फिर उसे ग्रहण करना चाहेगा ॥ ४७ ॥

या च श्रुतिर्मोक्षमवाप्तवन्तो नृपा गृहस्था इति नैतदस्ति ।
शमप्रधानः क च मोक्षधर्मो दण्डप्रधानः क च राजधर्मः ॥४८॥

यह (जन-) श्रुति कि गृहस्थ (=घर में रहते हुए) राजाओं ने मोक्ष पाया, यह सच नहीं है; कहाँ शम-प्रधान मोक्ष-धर्म और कहाँ दण्ड-प्रधान राज-धर्म ! ॥ ४८ ॥

४७—नेपाल दरबार के हस्तलिखित ग्रन्थ में ४७ के बाद और तिब्बती अनुवाद में ४९ के बाद निम्नलिखित पद्य है ;—

वह्नेश्च तोयस्य च नास्ति संधिः, शठस्य सत्यस्य च नास्ति संधिः,
आर्यस्य पापस्य च नास्ति संधिः, शमस्य दण्डस्य च नास्ति संधिः—

अग्नि और जल का मेल नहीं है, शठ और सत्य का मेल नहीं है आर्य और पाप का मेल नहीं है, शम और दण्ड का मेल नहीं है ।

शमे रतिश्चेच्छिथिलं च राज्यं राज्ये मतिश्चेच्छमविप्लवश्च ।
शमश्च तैक्ष्ण्यं च हि नोपपन्नं शीतोष्णयोरैक्यमिवोदकाग्न्योः ॥४९॥

यदि शम (=शान्ति) में रति हो, तो राज्य शिथिल होगा; यदि राज्य में मति हो, तो शान्ति में विप्लव होगा । शान्ति व तीक्ष्णता का मेल नहीं, जैसे शीतल जल व गर्म आग की एकता नहीं होती ॥ ४९ ॥

तन्निश्चयाद्वा वसुधाधिपास्ते राज्यानि मुक्त्वा शममाप्तवन्तः ।
राज्याङ्गिता वा निभृतेन्द्रियत्वादनैष्ठिके मोक्षकृताभिमानाः ॥५०॥

इसलिए उन वसुधाधिपों ने या तो निश्चय-पूर्वक राज्य छोड़कर शम प्राप्त किया, या राज्य के स्वामी होकर (केवल) इन्द्रिय-संयम होने के कारण अनैष्ठिक अवस्था में ही मोक्ष पाने का अभिमान किया ॥ ५० ॥

तेषां च राज्येऽस्तु शमो यथावत्प्राप्तो वनं नाहमनिश्चयेन ।
छित्त्वा हि पाशं गृहबन्धुसंज्ञं मुक्तः पुनर्न प्रविविक्षुरस्मि ॥५१॥

उन्हें राज्य में सम्यक् शान्ति मिली हो, मैंने अनिश्चय से वन में नहीं प्रवेश किया है । गृह व बन्धु नामक बन्धन काटकर मुक्त हुआ मैं फिर (बन्धन में) प्रवेश करना नहीं चाहता हूँ ।" ॥ ५१ ॥

इत्यात्मविज्ञानगुणानुरूपं मुक्तस्पृहं हेतुमदूर्जितं च ।
श्रुत्वा नरेन्द्रात्मजमुक्तवन्तं प्रत्युत्तरं मन्त्रधरोऽप्युवाच ॥५२॥

इस तरह राजा के पुत्र का अपने ज्ञान व गुणों के अनुरूप निरभिलाष युक्ति-युक्त व बलवान् उत्तर सुनकर, मन्त्री ने भी प्रति-उत्तर दियाः—॥ ५२ ॥

यो निश्चयो धर्मविधौ तवायं नायं न युक्तो न तु कालयुक्तः ।
शोकाय दत्त्वा पितरं वयःस्थं स्याद्धर्मकामस्य हि ते न धर्मः ॥५३॥

"धर्म के उपाय के लिए तुम्हारा जो यह निश्चय है, यह अनुचित नहीं; किंतु यह समय इसके लिए उचित नहीं । वृद्ध पिता को शोक देकर, तुझ धर्माभिलाषी को धर्म नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

नूनं च बुद्धिस्तव नातिसूक्ष्मा धर्मार्थकामेष्वविचक्षणा वा ।
हेतोरदृष्टस्य फलस्य यस्त्वं प्रत्यक्षमर्थं परिभूय यासि ॥५४॥

अवश्य ही धर्म अर्थ व काम में तुम्हारी बुद्धि या तो अतिसूक्ष्म नहीं, या मन्द है, जो अदृष्ट फलके हेतु तुम प्रत्यक्ष अर्थ का तिरस्कार करके जा रहे हो ॥ ५४ ॥

पुनर्भवोऽस्तीति च केचिदाहुर्नास्तीति केचिन्नियतप्रतिज्ञाः ।
एवं यदा संशयितोऽयमर्थस्तस्मात्क्षमं भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ॥५५॥

कुछ लोग कहते हैं कि पुनर्जन्म है, कुछ लोग प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं नहीं है। इस तरह जब यह बात संशय-युक्त है, तब उपस्थित श्री का भोग करना ही ठीक है ॥ ५५ ॥

भूयः प्रवृत्तिर्यदि काचिदस्ति रंस्यामहे तत्र यथोपपत्तौ ।
अथ प्रवृत्तिः परतो न काचित्सिद्धोऽप्रयत्नाज्जगतोऽस्य मोक्षः ॥५६॥

यदि फिर कोई प्रवृत्ति है, तो वहाँ जो कुछ मिलेगा उसीमें हम रमेंगे। यदि इससे परे कोई प्रवृत्ति नहीं है, तो इस जगत् का मोक्ष अनायास ही सिद्ध है ॥ ५६ ॥

अस्तीति केचित्परलोकमाहुर्मोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति ।
अग्नेर्यथा ह्यौष्ण्यमपां द्रवत्वं तद्वत्प्रवृत्तौ प्रकृतिं वदन्ति ॥५७॥

कोई कहते हैं कि परलोक है, किन्तु मोक्ष का उपाय नहीं बताते हैं। वे कहते हैं जैसे अग्नि में उष्णता है, पानी में द्रवत्व है वैसे ही प्रवृत्ति में प्रकृति (=स्वभाव है) ॥ ५७ ॥

केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च ।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः ॥५८॥

कोई बताते हैं कि शुभ-अशुभ और उत्पत्ति-अनुत्पत्ति स्वभाव से होती है। क्योंकि यह सब स्वाभाविक है, इसलिए भी प्रयत्न व्यर्थ है ॥ ५८ ॥

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव ।
संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥५९॥

इन्द्रियों का चलना (=काम करना) नियत है, प्रिय व अप्रिय लगना (इन्द्रिय-) विषयों में है और लोग बुढ़ापे व रोग से युक्त होते हैं। इन सब में यत्न क्या? वह तो स्वभाव है ॥ ५९ ॥

अद्भिर्हुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम्।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्वहन्ति ॥६०॥

जल से अग्नि शान्त होती है और तेज जल को सोखते हैं। शरीर में स्थित (पाँचो) तत्त्व (स्वभाव से) पृथक् पृथक् हैं और एक होकर जगत् को बनाते हैं ॥ ६० ॥

यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्नां निर्वर्तते गर्भगतस्य भावः।
यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥६१॥

गर्भ में जाने पर (व्यक्ति के) हाथ, पाँव, पेट, पीट व मस्तक होते हैं, आत्मा से उसका योग होता है, पण्डित यह सब स्वाभाविक बताते हैं ॥ ६१ ॥

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥६२॥

कौन काँटे की तीक्ष्णता या पशु-पक्षियों की विचित्रता (का सृजन) करता है? यह सब स्वभाव से हुआ है, अपनी इच्छा काम नहीं करती। प्रयत्न कहाँ से? ॥ ६२ ॥

सर्गं वदन्तीश्वरतस्तथान्ये तत्र प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थः।
य एव हेतुर्जगतः प्रवृत्तौ हेतुर्निवृत्तौ नियतः स एव ॥६३॥

उसी तरह दूसरे कहते हैं ईश्वर से सृष्टि होती है, उसमें पुरुष के प्रयत्न का क्या प्रयोजन? जगत् की प्रवृत्ति में जो कोई भी हेतु है, निश्चय ही उसकी निवृत्ति में भी वही हेतु है ॥ ६३ ॥

केचिद्वदन्त्यात्मनिमित्तमेव प्रादुर्भवं चैव भवक्षयं च।
प्रादुर्भवं तु प्रवदन्त्ययत्नाद्यत्नेन मोक्षाधिगमं ब्रुवन्ति ॥६४॥

कोई कहते हैं जन्म व जन्म-विनाश का निमित्त आत्मा ही है। वे कहते हैं कि जन्म बिना यत्न के होता है और मोक्ष-प्राप्ति यत्न से होती है ॥६४॥

नरः पितॄणामनृणः प्रजाभिर्वेदैऋर्षीणां क्रतुभिः सुराणाम् ।
उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः ॥६५॥

मनुष्य सन्तानद्वारा पितृ-ऋण से, वेदद्वारा ऋषि-ऋण से और यज्ञद्वारा देव-ऋण से मुक्त होता है, वह तीन ऋणों के साथ उत्पन्न होता है, जो उनसे मुक्त होता है उसीको मोक्ष है ॥ ६५ ॥

इत्येवमेतेन विधिक्रमेण मोक्षं सयत्नस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ।
प्रयत्नवन्तोऽपि हि विक्रमेण मुमुक्षवः खेदमवाप्नुवन्ति ॥६६॥

इस प्रकार इस विधि-क्रम से यत्न करनेवाले को मोक्ष मिलता है, ऐसा पण्डित कहते हैं, अपनी शक्ति से मोक्ष चाहनेवाले प्रयत्न करने पर भी थकावट ही पाते हैं ॥ ६६ ॥

तत्सौम्य मोक्षे यदि भक्तिरस्ति न्यायेन सेवस्व विधिं यथोक्तम् ।
एवं भविष्यत्युपपत्तिरस्य संतापनाशश्च नराधिपस्य ॥६७॥

इसलिए, हे सौम्य, यदि मोक्ष में भक्ति हो, तो कही गई विधि का उचित रीति से सेवन करो; इस प्रकार इसकी प्राप्ति होगी और राजा का संताप-नाश होगा ॥ ६७ ॥

या च प्रवृत्ता तव दोषबुद्धिस्तपोवनेभ्यो भवनं प्रवेष्टुम् ।
तत्रापि चिन्ता तव तात मा भूत् पूर्वेऽपि जग्मुः स्वगृहान्वनेभ्यः ६८

तपोवन से घर प्रवेश करने में तुम जो दोष समझ रहे हो, उसके लिए भी, हे तात, तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिए; पूर्व में भी लोग वन से अपने घर गये हैं ॥ ६८ ॥

तपोवनस्थोऽपि वृतः प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमम्बरीषः ।
तथा महीं विप्रकृतामनार्यैस्तपोवनादेत्य ररक्ष रामः ॥६९॥

तपोवन में रहने पर भी राजा अम्बरीष प्रजाओं से घिरकर नगर

को गया। उसी प्रकार अनार्यों से सताई जाती पृथ्वी की रक्षा राम ने वन से आकर की ॥ ६९ ॥

तथैव शाल्वाधिपतिर्द्रुमाख्यो वनात्ससूनुर्नगरं विवेश।
ब्रह्मर्षिभूतश्च मुनेर्वसिष्ठाद्दध्रे श्रियं सांकृतिरन्तिदेवः ॥७०॥

उसी प्रकार द्रुमनामक शाल्व-राज ने पुत्र के साथ वन से नगर में प्रवेश किया और ब्रह्मर्षि हुए सांकृति अन्तिदेव ने मुनि वसिष्ठ से राज्य-लक्ष्मी ग्रहण की ॥ ७० ॥

एवंविधा धर्मयशःप्रदीप्ता वनानि हित्वा भवनान्यतीयुः।
तस्मान्न दोषोऽस्ति गृहं प्रयातुं तपोवनाद्धर्मनिमित्तमेव ॥७१॥

धर्म के यश से जलते हुए ऐसे व्यक्ति वन छोड़कर घर गये। इसलिए धर्म के निमित्त ही तपोवन से घर जाने में दोष नहीं है।" ॥ ७१ ॥

ततो वचस्तस्य निशम्य मन्त्रिणः प्रियं हितं चैव नृपस्य चक्षुषः।
अनूनमव्यस्तमसक्तमद्रुतं धृतौ स्थितो राजसुतोऽब्रवीद्वचः ॥७२॥

तब राजा के नेत्रस्वरूप उस मंत्री का प्रिय व हितकारी वचन सुनकर, राजा के पुत्र ने धैर्यपूर्वक परिपूर्ण, सुलझा हुआ, आसक्ति-रहित व ठोस उत्तर दियाः—॥ ७२ ॥

इहास्ति नास्तीति य एष संशयः परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः।
अवेत्य तत्त्वं तपसा शमेन च स्वयं ग्रहीष्यामि यदत्र निश्चितम् ॥७३॥

"है, नहीं है, इस संसार में जो यह संशय है, इसमें दूसरों के वचन से मुझे निश्चय नहीं होगा। तपस्या और शान्ति से तत्त्व को जानकर इस विषय में जो निश्चय होगा वह मैं स्वयं ग्रहण करूँगा ॥ ७३ ॥

न मे क्षमं संशयजं हि दर्शनं ग्रहीतुमव्यक्तपरस्पराहतम्।
बुधः परप्रत्ययतो हि को व्रजेज्जनोऽन्धकारेऽन्ध इवान्धदेशिकः ॥७४॥

संशय से उत्पन्न व परस्पर-विरोधी दर्शन ग्रहण करना मेरे लिए ठीक नहीं। अँधेरे में अंधा गुरुवाले अंधे के समान कौन बुद्धिमान् दूसरों पर विश्वास कर चलेगा ? ॥ ७४ ॥

अदृष्टतत्त्वस्य सतोऽपि किं तु मे शुभाशुभे संशयिते शुभे मतिः ।
वृथापि खेदो हि वरं शुभात्मनः सुखं न तत्त्वेऽपि विगर्हितात्मनः ॥७५॥

यद्यपि मैंने तत्त्व को नहीं देखा है, तो भी शुभ व अशुभ संशययुक्त होनेपर शुभ में मेरी मति है । शुभात्मा (=शुभ में लगे हुए) का वृथा श्रम अच्छा है न कि अशुभात्मा का सुख, यदि वास्तव में वह सुख हो भी ॥ ७५ ॥

इमं तु दृष्ट्वागममव्यवस्थितं यदुक्तमाप्तैस्तदवेहि साध्विति ।
प्रहीणदोषत्वमवेहि चाप्ततां प्रहीणदोषो ह्यनृतं न वक्ष्यति ॥७६॥

इस शास्त्र को अव्यवस्थित देख रहे हैं, अतः आप्तजनों ने जो कहा उसे ही ठीक समझिए और दोष-विनाश ही आप्तता है, क्योंकि जिसका दोष नष्ट हो गया है वह झूठ नहीं कहेगा ॥ ७६ ॥

गृहप्रवेशं प्रति यच्च मे भवानुवाच रामप्रभृतीन्निदर्शनम् ।
न ते प्रमाणं न हि धर्मनिश्चयेष्वलं प्रमाणाय परिक्षतव्रताः ॥७७॥

घर जाने के बारे में आपने राम-आदि के जो उदाहरण दिये वे प्रमाण नहीं हैं : क्योंकि धर्म के निश्चय में वे प्रमाण नहीं हो सकते जिनका व्रत भङ्ग हो गया ॥ ७७ ॥

तदेवमप्येव रविर्महीं पतेदपि स्थिरत्वं हिमवान् गिरिस्त्यजेत् ।
अदृष्टतत्त्वो विषयोन्मुखेन्द्रियः श्रयेय न त्वेव गृहान् पृथग्जनः ॥७८॥

इसलिए यदि सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़े, हिमालय पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे, तो भी तत्त्व को देखे विना इन्द्रियों को विषयाभिमुख कर, मैं अज्ञानी घर नहीं जा सकता ॥ ७८ ॥

अहं विशेयं ज्वलितं हुताशनं न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयम् ।
इति प्रतिज्ञां स चकार गर्वितो यथेष्टमुत्थाय च निर्ममो ययौ ॥७९॥

जलती आग में मैं प्रवेश करूँगा, किंतु असफल होकर घर में प्रवेश नहीं करूँगा ।" अभिमानपूर्वक उसने यह प्रतिज्ञा की और इच्छानुसार उठकर वह निर्मम चला गया ॥ ७९ ॥

ततः सबाष्पौ सचिवद्विजावुभौ निशम्य तस्य स्थिरमेव निश्चयम् ।
विषण्णवक्त्रावनुगम्य दुःखितौ शनैरगत्या पुरमेव जग्मतुः ॥८०॥

तब उसका स्थिर निश्चय सुनकर, रोते हुए मंत्री और विप्र विषण्ण-मुख व दुःखी होकर पीछे पीछे गये, तब उपाय के अभाव में वे धीरे धीरे नगर की ही ओर चले ॥ ८० ॥

तत्स्नेहादथ नृपतेश्च भक्तितस्तौ सापेक्षं प्रतिययतुश्च तस्थतुश्च ।
दुर्धर्षं रविमिव दीप्तमात्मभासा तं द्रष्टुं न हि पथि शेकतुर्न मोक्तुम् ॥८१॥

तब उसके स्नेह से और राजा की भक्ति से वे दोनों उत्कण्ठित होकर लौटे और ठहर गये । आत्मतेज से चमकते सूर्य के समान उस दुर्धर्ष को रास्ते में वे न देख सकते थे, न छोड़ सकते थे ॥ ८१ ॥

तौ ज्ञातुं परमगतेर्गतिं तु तस्य
प्रच्छन्नांश्चरपुरुषाञ्छुचीन्विधाय ।
राजानं प्रियसुतलालसं नु गत्वा
द्रक्ष्यावः कथमिति जग्मतुः कथंचित् ॥ ८२ ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये कुमारान्वेषणो नाम नवमः सर्गः ॥९॥

उस परमगति की गति जानने के लिए उन्होंने पवित्र गुप्तचर रक्खे और "प्रिय पुत्र के लिए उत्सुक राजा को जाकर कैसे देखेंगे," यह सोचते हुए वे किसी किसी तरह गये ॥ ८२ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "कुमार-अन्वेषण" नामक
नवाँ सर्ग समाप्त ।

दसवाँ सर्ग

बिम्बसार का आगमन

स राजवत्सः पृथुपीनवक्षास्तौ सव्यमन्त्राधिकृतौ विहाय ।
उत्तीर्य गङ्गां प्रचलत्तरङ्गां श्रीमद्गृहं राजगृहं जगाम ॥ १ ॥

हवन और मंत्रणा के उन अधिकारियों को छोड़कर, चौड़ी व मोटी छातीवाला वह राज-कुमार चञ्चल तरंगोंवाली गंगा को पारकर, श्री-सम्पन्न गृहों से युक्त राजगृह को गया ॥ १ ॥

शैलैः सुगुप्तं च विभूषितं च धृतं च पूतं च शिवैस्तपोदैः ।
पञ्चाचलाङ्कं नगरं प्रपेदे शान्तः स्वयंभूरिव नाकपृष्ठम् ॥ २ ॥

पर्वतों से सुरक्षित व विभूषित तथा कल्याण-कारी तपोदों (=गर्म जल के झरनों) से धारण और पवित्र किये गये नगर में, जो पाँच पहाड़ों से चिह्नित है, उसने शान्त होकर प्रवेश किया, जैसे स्वर्ग में स्वयंभू (प्रवेश कर रहा हो) ॥ २ ॥

गाम्भीर्यमोजश्च निशाम्य तस्य वपुश्च दीप्तं पुरुषानतीत्य ।
विसिस्मिये तत्र जनस्तदानीं स्थाणुव्रतस्येव वृषध्वजस्य ॥ ३ ॥

कठोर–व्रत-धारी शिव का सा उसका गाम्भीर्य, ओज तथा असाधारण दीप्त रूप देखकर लोग उस समय वहाँ विस्मित हुए ॥ ३ ॥

तं प्रेक्ष्य योऽन्येन ययौ स तस्थौ यस्तत्र तस्थौ पथि सोऽन्वगच्छत् ।
द्रुतं ययौ यः स जगाम धीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात ॥४॥

उसे देखकर, जो दूसरे रास्ते से जा रहा था वह ठहर गया, जो वहाँ रास्ते में ठहरा हुआ था वह पीछे पीछे गया, जो धीरे धीरे जा रहा था वह शीघ्रता से गया, जो कोई बैठा हुआ था वह उछल पड़ा ॥ ४ ॥

कश्चित्तमानर्च जनः कराभ्यां सत्कृत्य कश्चिच्छिरसा ववन्दे ।
स्निग्धेन कश्चिद्वचसाभ्यनन्दन्नैनं जगामाप्रतिपूज्य कश्चित् ॥ ५ ॥

किसी ने हाथ जोड़कर उसकी पूजा की, किसी ने शिर से प्रणाम कर सत्कार किया, किसीने स्नेह-भरे वचन से अभिनन्दन किया, उसकी पूजा किये बिना कोई नहीं गया ॥ ५ ॥

तं जिह्रियुः प्रेक्ष्य विचित्रवेषाः प्रकीर्णवाचः पथि मौनमीयुः ।
धर्मस्य साक्षादिव संनिकर्षे न कश्चिदन्यायमतिर्बभूव ॥ ६ ॥

उसे देखकर विचित्र वेषवाले लज्जित हुए, रास्ते में बहुत बोलनेवाले चुप हो गये । साक्षात् धर्म के समान उसके समीप किसी की अन्याय-बुद्धि नहीं हुई ॥ ६ ॥

अन्यक्रियाणामपि राजमार्गे स्त्रीणां नृणां वा बहुमानपूर्वम् ।
तं देवकल्पं नरदेवसूनुं निरीक्षमाणा न ततर्प दृष्टिः ॥ ७ ॥

राज-मार्ग में अन्य कार्यों में व्यस्त रहने पर भी स्त्रियों या पुरुषों की दृष्टि उस देव-तुल्य राज-कुमार को अति सम्मान-पूर्वक देखती हुई तृप्त नहीं हुई ॥ ७ ॥

भ्रुवौ ललाटं मुखमीक्षणे वा वपुः करौ वा चरणौ गतिं वा ।
यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षुः ॥ ८ ॥

उसकी भौंहें, ललाट, मुख, आँखें, आकृति, हाथ, पाँव या गति, जिसे ही जिसने वहाँ देखा उसी में उसकी आँखें बँध गईं ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा च सोर्णभ्रुवमायताक्षं ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम् ।
तं भिक्षुवेषं क्षितिपालनार्हं संचुक्षुभे राजगृहस्य लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

उसकी भौंहें लोमश थीं, आँखें लम्बी थीं, शरीर जल रहा था, हाथों में शुभ-सूचक (रेखा-) जाल थे, वह भिक्षु-वेष में था, किंतु पृथ्वी-पालन के योग्य था; उसे देखकर राजगृह की लक्ष्मी संक्षुब्ध हुई ॥ ९ ॥

श्रेण्योऽथ भर्ता मगधाजिरस्य बाह्याद्विमानाद्विपुलं जनौघम् ।
ददर्श पप्रच्छ च तस्य हेतुं ततस्तमस्मै पुरुषः शशंस ॥१०॥

तब मगध-देश के स्वामी श्रेण्य (=बिम्बसार) ने बाहरी महल से विशाल जन-समूह को देखा और उसका कारण पूछा तब किसी राज-पुरुष ने उसे कहाः—॥ १० ॥

ज्ञानं परं वा पृथिवीश्रियं वा विप्रैर्य उक्तोऽधिगमिष्यतीति ।
स एष शाक्याधिपतेस्तनूजो निरीक्ष्यते प्रव्रजितो जनेन ॥११॥

"शाक्य-राज का वह यही पुत्र है, जो विप्रों के कथनानुसार परम ज्ञान या पृथ्वी की लक्ष्मी प्राप्त करेगा। उसने प्रव्रज्या ली है, लोग उसे देख रहे हैं।" ॥ ११ ॥

ततः श्रुतार्थो मनसागतास्थो राजा बभाषे पुरुषं तमेव ।
विज्ञायतां क प्रतिगच्छतीति तथेत्यथैनं पुरुषोऽन्वगच्छत् ॥१२॥

तब कारण जानकर राजा के मन मे आदर हुआ, उसने उसी राज-पुरुष से कहा—"मालूम करो कि वह कहाँ जा रहा है।" "बहुत अच्छा" कहकर वह उसके पीछे पीछे गया ॥ १२ ॥

अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी ।
चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥१३॥

उसकी आँखें स्थिर थीं, वह जुए की दूरी तक ही देखता था, वाणी बन्द थी, चाल मन्द व नियन्त्रित थी: गात्र व चञ्चल चित्त को वश में करके वह भिक्षु-श्रेष्ठ भिक्षा माँग रहा था ॥ १३ ॥

आदाय भैक्षं च यथोपपन्नं ययौ गिरेः प्रस्रवणं विविक्तम् ।
न्यायेन तत्राभ्यवहृत्य चैनन्महीधरं पाण्डवमारुरोह ॥१४॥

जो कुछ मिली भिक्षा को लेकर, वह पर्वत के एकान्त झरने की ओर गया। वहाँ उसे उचित रीति से खाकर, वह पाण्डव पर्वत पर चढ़ गया ॥ १४ ॥

तस्मिन्नवौ लोध्रवनोपगूढे मयूरनादप्रतिपूर्णकुञ्जे ।
काषायवासाः स बभौ नृसूर्यो यथोदयस्योपरि बालसूर्यः ॥१५॥

लोध्र-वन से युक्त उस पर्वत पर, जिसके कुञ्ज मोरों की ध्वनि से

कश्चित्तमानर्च जनः कराभ्यां सत्कृत्य कश्चिच्छिरसा ववन्दे ।
स्निग्धेन कश्चिद्वचसाभ्यनन्दन्नैनं जगामाप्रतिपूज्य कश्चित् ॥ ५ ॥

किसी ने हाथ जोड़कर उसकी पूजा की, किसी ने शिर से प्रणाम कर सत्कार किया, किसीने स्नेह-भरे वचन से अभिनन्दन किया, उसकी पूजा किये विना कोई नहीं गया ॥ ५ ॥

तं जिह्रियुः प्रेक्ष्य विचित्रवेषाः प्रकीर्णवाचः पथि मौनमीयुः ।
धर्मस्य साक्षादिव संनिकर्षे न कश्चिदन्यायमतिर्बभूव ॥ ६ ॥

उसे देखकर विचित्र वेषवाले लज्जित हुए, रास्ते में बहुत बोलनेवाले चुप हो गये । साक्षात् धर्म के समान उसके समीप किसी की अन्याय-बुद्धि नहीं हुई ॥ ६ ॥

अन्यक्रियाणामपि राजमार्गे स्त्रीणां नृणां वा बहुमानपूर्वम् ।
तं देवकल्पं नरदेवसूनुं निरीक्षमाणा न ततर्प दृष्टिः ॥ ७ ॥

राज-मार्ग में अन्य कार्यों में व्यस्त रहने पर भी स्त्रियों या पुरुषों की दृष्टि उस देव-तुल्य राज-कुमार को अति सम्मान-पूर्वक देखती हुई तृप्त नहीं हुई ॥ ७ ॥

भ्रुवौ ललाटं मुखमीक्षणे वा वपुः करौ वा चरणौ गतिं वा ।
यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षुः ॥ ८ ॥

उसकी भौंहें, ललाट, मुख, आँखें, आकृति, हाथ, पाँव या गति, जिसे ही जिसने वहाँ देखा उसी में उसकी आँखें बँध गईं ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा च सोर्णभ्रुवमायताक्षं ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम् ।
तं भिक्षुवेषं क्षितिपालनार्हं संचुक्षुभे राजगृहस्य लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

उसकी भौंहें लोमश थीं, आँखें लम्बी थीं, शरीर जल रहा था, हाथों में शुभ-सूचक (रेखा-) जाल थे, वह भिक्षु-वेष में था, किंतु पृथ्वी-पालन के योग्य था; उसे देखकर राजगृह की लक्ष्मी संक्षुब्ध हुई ॥ ९ ॥

श्रेण्योऽथ भर्ता मगधाजिरस्य बाह्याद्विमानाद्विपुलं जनौघम् ।
ददर्श पप्रच्छ च तस्य हेतुं ततस्तमस्मै पुरुषः शशंस ॥१०॥

तब मगध-देश के स्वामी श्रेण्य (=बिम्बसार) ने बाहरी महल से विशाल जन-समूह को देखा और उसका कारण पूछा तब किसी राज-पुरुष ने उसे कहा:—॥ १० ॥

ज्ञानं परं वा पृथिवीश्रियं वा विप्रैर्य उक्तोऽधिगमिष्यतीति ।
स एष शाक्याधिपतेस्तनूजो निरीक्ष्यते प्रव्रजितो जनेन ॥११॥

"शाक्य-राज का वह यही पुत्र है, जो विप्रों के कथनानुसार परम ज्ञान या पृथ्वी की लक्ष्मी प्राप्त करेगा। उसने प्रव्रज्या ली है, लोग उसे देख रहे हैं।" ॥ ११ ॥

ततः श्रुतार्थो मनसागतास्थो राजा बभाषे पुरुषं तमेव ।
विज्ञायतां क्व प्रतिगच्छतीति तथेत्यथैनं पुरुषोऽन्वगच्छत् ॥१२॥

तब कारण जानकर राजा के मन में आदर हुआ, उसने उसी राज-पुरुष से कहा—"मालूम करो कि वह कहाँ जा रहा है।" "बहुत अच्छा" कहकर वह उसके पीछे पीछे गया ॥ १२ ॥

अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी ।
चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥१३॥

उसकी आँखें स्थिर थीं, वह जुए की दूरी तक ही देखता था, वाणी बन्द थी, चाल मन्द व नियन्त्रित थी; गात्र व चञ्चल चित्त को वश में करके वह भिक्षु-श्रेष्ठ भिक्षा माँग रहा था ॥ १३ ॥

आदाय भैक्षं च यथोपपन्नं ययौ गिरेः प्रस्रवणं विविक्तम् ।
न्यायेन तत्राभ्यवहृत्य चैनन्महीधरं पाण्डवमारुरोह ॥१४॥

जो कुछ मिली भिक्षा को लेकर, वह पर्वत के एकान्त झरने की ओर गया। वहाँ उसे उचित रीति से खाकर, वह पाण्डव पर्वत पर चढ़ गया ॥ १४ ॥

तस्मिन्नवौ लोध्रवनोपगूढे मयूरनादप्रतिपूर्णकुञ्जे ।
काषायवासाः स बभौ नृसूर्यो यथोदयस्योपरि बालसूर्यः ॥१५॥

लोध्र-वन से युक्त उस पर्वत पर, जिसके कुञ्ज मोरों की ध्वनि से

भर रहे थे, काषाय-वस्त्र-धारी वह नर-सूर्य इस प्रकार शोभित हुआ, जैसे उदयाचल पर बाल-सूर्य ॥ १५ ॥

तत्रैनमालोक्य स राजभृत्यः श्रेण्याय राज्ञे कथयांचकार ।
संश्रुत्य राजा स च बाहुमान्यात्तत्र प्रतस्थे निभृतानुयात्रः ॥१६॥

वहाँ उसे देखकर उस राज-पुरुष ने राजा श्रेण्य से यह सब निवेदन किया। यह सुनकर अति सम्मान के कारण विनीत अनुचरों के साथ वह राजा वहाँ चला ॥ १६ ॥

स पाण्डवं पाण्डवतुल्यवीर्यः शैलोत्तमं शैलसमानवर्ष्मा ।
मौलीधरः सिंहगतिर्नृसिंहश्चलत्सटः सिंह इवारुरोह ॥१७॥

पाण्डवों के समान उसकी वीरता थी, पर्वत के समान उसका शरीर था, वह पाण्डव नामक उत्तम पर्वत पर चढ़ा; वह नर-सिंह, जो मुकुट पहने हुए था और जिसकी चाल सिंह की सी थी, उस सिंह के समान था जिसके केसर हिल रहे हों ॥ १७ ॥

ततः स्म तस्योपरि शृङ्गभूतं शान्तेन्द्रियं पश्यति बोधिसत्त्वम् ।
पर्यङ्कमास्थाय विरोचमानं शशाङ्कमुद्यन्तमिवाभ्रकुञ्जात् ॥१८॥

तब उस (पर्वत) के ऊपर शिखर-सदृश बोधिसत्त्व को देखा, जिसके इन्द्रिय शान्त थे; पर्यङ्क आसन में बैठा हुआ वह, मेघ-कुञ्ज से उगते चाँद के समान, चमक रहा था ॥ १८ ॥

तं रूपलक्ष्म्या च शमेन चैव धर्मस्य निर्माणमिवोपविष्टम् ।
सविस्मयः प्रश्रयवान्नरेन्द्रः स्वयंभुवं शक्र इवोपतस्थे ॥१९॥

रूप सम्पत्ति व शान्ति से जान पड़ता था जैसे धर्म का बनाया हुआ कोई बैठा हो; विस्मय और विनयपूर्वक राजा उसके समीप उपस्थित हुआ, जैसे स्वयंभू के समीप इन्द्र (उपस्थित हो रहा हो) ॥ १९ ॥

तं न्यायतो न्यायविदां वरिष्ठं समेत्य पप्रच्छ च धातुसाम्यम् ।
स चाप्यवोचत्सदृशेन साम्ना नृपं मनःस्वास्थ्यमनामयं च ॥२०॥

औचित्य जाननेवालों में वह श्रेष्ठ था, उसके समीप उचित रीति

से जाकर उसका धातु-साम्य (=स्वास्थ्य) पूछा। उसने भी योग्य नम्रतापूर्वक राजा से मानसिक स्वास्थ्य और (शारीरिक) आरोग्य कहे ॥२०॥

ततः शुचौ वारणकर्णनीले शिलातले संनिषसाद राजा।
उपोपविश्यानुमतश्च तस्य भावं विजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥२१॥

तब स्वच्छ शिला-तल पर, जो हाथी के कान के समान नीला था, राजा बैठ गया। समीप में बैठकर और अनुमति पाकर उसका भाव जानने की इच्छा से यों कहा— ॥ २१ ॥

प्रीतिः परा मे भवतः कुलेन क्रमागता चैव परीक्षिता च।
जाता विवक्षा स्ववयो यतो मे तस्मादिदं स्नेहवचो निबोध ॥२२॥

"आपके कुल से मेरी बड़ी प्रीति है, वह परम्परागत है और परीक्षित है; अतः, हे मित्र, मुझे कुछ कहने की इच्छा हुई है। इसलिए यह स्नेह-वचन सुनिये:— ॥ २२ ॥

आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च।
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये ॥२३॥

आपका कुल महान् है, सूर्य से उत्पन्न हुआ है, आपकी अवस्था नई है और यह दीप्त रूप है। किस कारण क्रम तोड़कर आपकी बुद्धि भिक्षा-वृत्ति में रत है, राज्य में नहीं? ॥ २३ ॥

गात्रं हि ते लोहितचन्दनार्हं काषायसंश्लेषमनर्हमेतत्।
हस्तः प्रजापालनयोग्य एष भोक्तुं न चार्हः परदत्तमन्नम् ॥२४॥

आपका शरीर लाल चन्दन के योग्य है, काषाय-स्पर्श के योग्य यह नहीं। यह हाथ प्रजा-पालन के योग्य है, दूसरों का दिया अन्न खाने योग्य नहीं ॥ २४ ॥

तत्सौम्य राज्यं यदि पैतृकं त्वं स्नेहात्पितुर्नेच्छसि विक्रमेण।
न च क्रमं मर्षयितुं मतिस्ते भुङ्क्ष्वार्धमस्मद्विषयस्य शीघ्रम् ॥२५॥

इसलिए, हे सौम्य, यदि आप स्नेह-वश पिता से पैतृक राज्य पराक्रम-पूर्वक नहीं (लेना) चाहते हैं और यदि क्रम को सहने का (=क्रम से

राज्य-प्राप्ति तक ठहरने का) विचार आपका नहीं है, तो शीघ्र ही मेरे आधे राज्य का आप पालन करें ॥ २५ ॥

एवं हि न स्यात्स्वजनावमर्दः कालक्रमेणापि शमश्रया श्रीः ।
तस्मात्कुरुष्व प्रणयं मयि त्वं सद्भिः सहीया हि सतां समृद्धिः ॥२६॥

इस प्रकार स्वजन का उत्पीड़न नहीं होगा, काल-क्रम से शान्ति में रहनेवाली सम्पत्ति भी मिलेगी। इसलिए आप मुझ से प्रीति करें, क्योंकि सज्जनों की संगति से सज्जनों की समृद्धि होती है ॥ २६ ॥

अथ त्विदानीं कुलगर्वितत्वादस्मासु विश्रम्भगुणो न तेऽस्ति ।
व्यूढान्यनीकानि विगाह्य बाणैर्मया सहायेन परान् जिगीष ॥२७॥

यदि इस समय कुल के गर्व के कारण हमारे ऊपर आपका विश्वास नहीं है, तो मुझ सहायक के साथ बाणों से सैन्य-समूहों में प्रवेश कर शत्रुओं को जीतिये ॥ २७ ॥

तद्बुद्धिमत्रान्यतरां वृणीष्व धर्मार्थकामान्विधिवद्भजस्व ।
व्यत्यस्य रागादिह हि त्रिवर्गं प्रेत्येह च भ्रंशमवाप्नुवन्ति ॥२८॥

इसलिए दो में से एक विचार स्वीकार कीजिये। धर्म, अर्थ और काम का विधिवत् सेवन कीजिए, क्योंकि राग-वश यहाँ त्रिवर्ग का उलट-पुलट होने से लोग यहाँ और परलोक में भी भ्रष्ट होते हैं ॥ २८ ॥

यो ह्यर्थधर्मौ परिपीड्य कामः स्याद्धर्मकामौ परिभूय चार्थः ।
कामार्थयोश्चोपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्स्नो यदि काङ्क्षितोऽर्थः ॥२९॥

अर्थ व धर्म को परिपीड़ित कर जो काम होगा, धर्म व काम को दबाकर जो अर्थ होगा और काम व अर्थ के विनाश से जो धर्म होगा उसे छोड़िये, यदि आप सम्पूर्ण लक्ष्य (की सिद्धि) चाहते हैं ॥ २९ ॥

तस्मात्त्रिवर्गस्य निषेवणेन त्वं रूपमेतत्सफलं कुरुष्व ।
धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः ॥३०॥

इसलिए त्रिवर्ग के सेवन से आप इस रूप को सफल कीजिए; क्योंकि

कहते हैं कि धर्म अर्थ व काम की सम्पूर्ण प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ है ॥ ३० ॥

तन्निष्फलौ नार्हसि कर्तुमेतौ पीनौ भुजौ चापविकर्षणार्हौ।
मान्धातृवज्जेतुमिमौ हि योग्यौ लोकानपि त्रीनिह किं पुनर्गाम् ॥३१॥

इसलिए धनुष खींचने योग्य इन मोटी भुजाओं को आपको निष्फल नहीं करना चाहिए; क्योंकि मान्धाता के समान ये तीनों लोक जीतने योग्य हैं, फिर इस पृथिवी का क्या कहना ॥ ३१ ॥

स्नेहेन खल्वेतदहं ब्रवीमि नैश्वर्यरागेण न विस्मयेन।
इमं हि दृष्ट्वा तव भिक्षुवेषं जातानुकम्पोऽस्म्यपि चागताश्रुः ॥३२॥

स्नेह से मैं यह कह रहा हूँ, ऐश्वर्य के अनुराग से नहीं, विस्मय (औद्धत्य ?) से नहीं। आपका यह भिक्षु-वेष देखकर मुझे अनुकम्पा हो गई है, और आँसू आ गये हैं ॥ ३२ ॥

यावत्स्ववंशप्रतिरूप रूपं न ते जराभ्येत्यभिभूय भूयः।
तद्भुङ्क्ष्व भिक्षाश्रमकाम कामान् कालेऽसि कर्ता प्रियधर्म धर्मम् ३३

हे स्व-वंश प्रतिबिम्ब, जब तक आपके रूप को दबाकर बुढ़ापा फिर नहीं आता, तबतक, हे भिक्षु-आश्रम के इच्छुक, कामपभोग कीजिए। हे प्रियधर्म, समय पर धर्म कीजिएगा ॥ ३३ ॥

शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः।
अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविरस्य धर्मम् ॥ ३४ ॥

वृद्ध धर्म प्राप्त कर सकता है, कामोपभोग में बुढ़ापे की गति नहीं है। और इस कारण युवक के लिए काम, मध्य के लिए वित्त, और बूढ़े के लिए धर्म बताते हैं ॥ ३४ ॥

धर्मस्य चार्थस्य च जीवलोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि।
संरक्ष्यमाणान्यपि दुर्ग्रहाणि कामा यतस्तेन पथा हरन्ति ॥ ३५ ॥

जीव-लोक में धर्म और अर्थ का शत्रु यौवन है। यत्न करने

पर भी उसे पकड़ रखना कठिन है; क्योंकि काम अपने मार्ग से उसे ले जाते हैं ॥ ३५ ॥

वयांसि जीर्णानि विमर्शवन्ति धीराण्यवस्थानपरायणानि ।
अल्पेन यत्नेन शमात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लज्जया च ॥ ३६ ॥

वृद्धावस्था विचारवती, धीर और स्थिरता परायण होती है। उपाय-हीनता और लज्जा के कारण अल्प यत्न से ही उसमें शान्ति मिलती है ॥३६॥

अतश्च लोलं विषयप्रधानं प्रमत्तमक्षान्तमदीर्घदर्शि ।
बहुच्छलं यौवनमभ्यतीत्य निस्तीर्य कान्तारमिवाश्वसन्ति ॥ ३७ ॥

अतः चञ्चल, विषय-प्रधान, प्रमत्त, असहनशील, अदीर्घदर्शी और अनेक छलों से युक्त यौवन को बिताकर लोग वैसे ही आश्वस्त होते हैं, जैसे जंगल को पारकर ॥ ३७ ॥

तस्मादधीरं चपलप्रमादि नवं वयस्तावदिदं व्यपैतु ।
कामस्य पूर्वं हि वयः शरव्यं न शक्यते रक्षितुमिन्द्रियेभ्यः ॥ ३८ ॥

इसलिए अधीर, चपल और प्रमाद-पूर्ण यह नई वयस तब तक बीते; क्योंकि कामदेव का लक्ष्य नई जवानी है, जिसकी इन्द्रियों से रक्षा नहीं की जा सकती ॥ ३८ ॥

अथो चिकीर्षा तव धर्म एव यजस्व यज्ञं कुलधर्म एषः ।
यज्ञैरधिष्ठाय हि नागपृष्ठं ययौ मरुत्वानपि नाकपृष्ठम् ॥ ३९ ॥

यदि आपकी इच्छा धर्म करना ही है, तो यज्ञ कीजिए, यह आपका कुल-धर्म है। यज्ञोंद्वारा हाथी की पीठ पर चढ़कर इन्द्र भी स्वर्ग को गया था ॥ ३९ ॥

३९—"नाक" की जगह "नाग" रक्खा गया है। नमुचि के वध के बाद, यज्ञ-द्वारा ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होकर, इन्द्र स्वर्ग को लौटा था।

सुवर्णकेयूरविदष्टबाहवो मणिप्रदीपोज्ज्वलचित्रमौलयः ।
नृपर्षयस्तां हि गतिं गता मखैः श्रमेण यामेव महर्षयो ययुः ॥ ४० ॥

राजर्षि गण, जिनकी भुजाएँ सुवर्ण केयूरों से बँधी थीं और जिनके रंग-बिरंगे मुकुट मणि-प्रदीपों से उज्ज्वल थे, यज्ञोंद्वारा उस गति को प्राप्त हुए, जिसको ही महर्षि-गण तपस्याद्वारा प्राप्त हुए ॥ ४० ॥

इत्येवं मगधपतिर्वचो बभाषे यः सम्यग्वलभिदिव ब्रुवन् बभासे ।
तच्छ्रुत्वा न स विचचाल राजसूनुः कैलासो गिरिरिव नैकचित्रसानुः ४१

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते श्रेण्याभिगमनो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

इस प्रकार मगध-राज ने यह वचन कहा । वह ठीक ठीक बोलने में इन्द्र के समान शोभित हुआ । यह सुनकर वह राज पुत्र विचलित नहीं हुआ, जैसे अनेक रंग-बिरंगी चोटियों से युक्त कैलास पर्वत (विचलित नहीं होता है) ॥ ४१ ॥

अश्वघोष–कृत बुद्धचरित महाकाव्यका "बिम्बसार का आगमन"
नामक दसवाँ सर्ग समाप्त ।

ग्यारहवाँ सर्ग

काम–निन्दा

अथैवमुक्तो मगधाधिपेन सुहृन्मुखेन प्रतिकूलमर्थम्।
स्वस्थोऽविकारः कुलशौचशुद्धः शौद्धोदनिर्वाक्यमिदं जगाद ॥ १ ॥

तब मगध-राज के द्वारा अपने मित्र-मुख से इस तरह प्रतिकूल बात कही जाने पर, अपने कुल की पवित्रता से पवित्र शौद्धोदनि (=शुद्धोदन के पुत्र) ने स्वस्थ और विकार-रहित होकर यह वाक्य कहाः—॥ १ ॥

नाश्चर्यमेतद्भवतोऽभिधातुं जातस्य हर्यङ्ककुले विशाले।
यन्मित्रपक्षे तव मित्रकाम स्याद्वृत्तिरेषा परिशुद्धवृत्तेः ॥ २ ॥

"आप विशाल हर्यङ्क-कुल में पैदा हुए हैं, अतः आपके लिए ऐसा कहना आश्चर्यजनक नहीं; हे मित्रेच्छु, मित्रों के प्रति आप शुद्धाचार का यह व्यवहार आश्चर्यजनक नहीं ॥ २ ॥

असत्सु मैत्री स्वकुलानुवृत्ता न तिष्ठति श्रीरिव विक्लवेषु।
पूर्वैः कृतां प्रीतिपरंपराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति ॥ ३ ॥

अपने कुल में (पूर्वजों द्वारा) पालित मैत्री असज्जनों के पास नहीं रहती, जैसे (अपने कुल में पालित) लक्ष्मी विह्वलों के पास नहीं रहती; किंतु सज्जन पूर्वजों द्वारा की गई उसी (मैत्री) को प्रीति-परंपरा से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

ये चार्थकृच्छ्रेषु भवन्ति लोके समानकार्याः सुहृदां मनुष्याः।
मित्राणि तानीति परैमि बुद्ध्या स्वस्थस्य वृद्धिष्विह को हि न स्यात् ॥४॥

२—हर्यङ्क=उस कुल के किसी राजा का नाम, या वह कुल जिसका चिह्न सिंह है।

धन कमने पर संसार में जो मनुष्य मित्रों के काम में हाथ बँटाते हैं, अपनी बुद्धि से मैं उन्हीं को मित्र समझता हूँ; क्योंकि जो स्वस्थ है (=अच्छी अवस्था में है) उसकी बढ़ती में कौन (साथ) नहीं रहेगा ? ॥ ४ ॥

एवं च ये द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति ।
अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम् ॥५॥

इस प्रकार संसार में धन पाकर जो लोग मित्रों और धर्म में लगाते हैं, उनके धन सारवान् हैं, नष्ट होने पर अन्त में वे ताप नहीं पैदा करते ॥ ५ ॥

सुहृत्तया चार्यतया च राजन् खल्वेष यो मां प्रति निश्चयस्ते ।
अत्रानुनेष्यामि सुहृत्तयैव ब्रूयामहं नोत्तरमन्यदत्र ॥ ६ ॥

मित्रता और आर्यता से, हे राजन्, मेरे प्रति आपका जो यह निश्चय हुआ है, इसमें मित्रता से ही अनुनय करूँगा, इसमें दूसरा उत्तर नहीं दूँगा ॥ ६ ॥

अहं जरामृत्युभयं विदित्वा मुमुक्षया धर्ममिमं प्रपन्नः ।
बन्धून् प्रियानश्रुमुखान्विहाय प्रागेव कामानशुभस्य हेतून् ॥ ७ ॥

जरा व मृत्यु का भय जानकर मोक्ष की इच्छा से मैं इस धर्म की शरण में, अश्रु-मुख प्रिय बन्धुओं को छोड़कर, अशुभ के कारण स्वरूप काम को तो पहले ही (छोड़कर), आया हूँ ॥ ७ ॥

नाशीविषेभ्यो हि तथा बिभेमि नैवाशनिभ्यो गगनाच्च्युतेभ्यः ।
न पावकेभ्योऽनिलसंहितेभ्यो यथा भयं मे विषयेभ्य एव ॥ ८ ॥

सर्पों से मैं उतना नहीं डरता, न आकाश से गिरे वज्रों से, न हवा से मिली आग से, जितना कि विषयों से ॥ ८ ॥

कामा ह्यनित्याः कुशलार्थचौरा रिक्ताश्च मायासदृशाश्च लोके ।
आशास्यमाना अपि मोहयन्ति चित्तं नृणां किं पुनरात्मसंस्थाः ॥९॥

काम अनित्य हैं, कुशलरूप धन के चोर हैं, खाली हैं और संसार में

माया के समान हैं। उनकी चिन्ता करने पर भी वे मनुष्यों के चित्त मूढ़ करते हैं, फिर अपने में उनके स्थित रहने पर क्या कहना ॥ ९ ॥

कामाभिभूता हि न यान्ति शर्म त्रिपिष्टपे किं बत मर्त्यलोके।
कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति तृप्तिर्यथेन्धनैर्वातसखस्य वह्नेः ॥ १० ॥

जो काम से अभिभूत हैं वे, मर्त्य-लोक में क्या, स्वर्ग में भी शान्ति नहीं पाते। तृष्णावान् को काम से तृप्ति नहीं होती, जैसे हवा का साथ पाकर आग को (तृप्ति नहीं होती) ॥ १० ॥

जगत्यनर्थो न समोऽस्ति कामैर्मोहाच्च तेष्वेव जनः प्रसक्तः।
तत्त्वं विदित्वैवमनर्थभीरुः प्राज्ञः स्वयं कोऽभिलषेदनर्थम् ॥ ११ ॥

जगत में काम के समान अनर्थ नहीं और मोह से आदमी उसी में आसक्त होता है। तत्त्व को जानकर अनर्थ से डरनेवाला कौन बुद्धिमान् स्वयं अनर्थ की अभिलाषा करे ? ॥ ११ ॥

समुद्रवस्त्रामपि गामवाप्य पारं जिगीषन्ति महार्णवस्य।
लोकस्य कामैर्न वितृप्तिरस्ति पतद्भिरम्भोभिरिवार्णवस्य ॥ १२ ॥

समुद्र-वसना पृथिवी को भी पाकर लोग महासागर के पार जीतने की इच्छा करते हैं। संसार को काम (-उपभोग) से तृप्ति नहीं होती, जैसे गिरती जल राशि से महासागर की (तृप्ति नहीं होती) ॥ १२ ॥

देवेन वृष्टेऽपि हिरण्यवर्षे द्वीपान्समग्रांश्चतुरोऽपि जित्वा।
शक्रस्य चार्धासनमप्यवाप्य मान्धातुरासीद्विषयेष्वतृप्तिः ॥ १३ ॥

१३—देवद्वारा सुवर्ण-वृष्टि की जाने पर भी, चारों समग्र द्वीपों को भी जीतकर और इन्द्र का आधा आसन भी पाकर, मान्धाता को विषयों में तृप्ति नहीं हुई ॥ १३ ॥

भुक्त्वापि राज्यं दिवि देवतानां शतक्रतौ वृत्रभयात्प्रनष्टे।
दर्पान्महर्षीनपि वाहयित्वा कामेष्वतृप्तो नहुषः पपात ॥ १४ ॥

वृत्र के भय से इन्द्र के छिपने पर, स्वर्ग में देवताओं का राज्य

भोग कर भी, दर्प से महर्षियोंद्वारा भी (अपने को) वहन कराकर, नहुष गिर पड़ा, काम में अतृप्त ही रहा ॥ १४ ॥

ऐडश्च राजा त्रिदिवं विगाह्य नीत्वापि देवीं वशमुर्वशीं ताम् ।
लोभादृषिभ्यः कनकं जिहीर्षुर्जगाम नाशं विषयेष्वतृप्तः ॥१५॥

और राजा ऐड (इडा का पुत्र) स्वर्ग में प्रवेश कर, उस देवी उर्वशी को वश में लाकर भी, लोभवश ऋषियों से सुवर्ण हरण करने की इच्छा से नाश को प्राप्त हुआ, विषयों में अतृप्त ही रहा ॥ १५ ॥

बलेर्महेन्द्रं नहुषं महेन्द्रादिन्द्रं पुनर्ये नहुषादुपेयुः ।
स्वर्गे क्षितौ वा विषयेषु तेषु को विश्वसेद्भाग्यकुलाकुलेषु ॥१६॥

जो विषय बलि से महेन्द्र के पास, महेन्द्र से नहुष के पास, फिर नहुष से (महा-) इन्द्र के पास गये, भाग्य से परेशान रहनेवाले उन विषयों में, स्वर्ग में या पृथिवी पर, कौन विश्वास करे ? ॥ १६ ॥

चीराम्बरा मूलफलाम्बुभक्षा जटा वहन्तोऽपि भुजङ्गदीर्घाः ।
यैर्नान्यकार्या मुनयोऽपि भग्नाः कः कामसंज्ञान्मृगयेत शत्रून् ॥१७॥

वल्कल-वस्त्र पहननेवाले, जल-फल-मूल भक्षण करनेवाले, साँप के समान लम्बी जटा धारण करनेवाले मुनि लोग भी, जिन्हें (तप आदि के अतिरिक्त) दूसरा काम नहीं था, जिनके द्वारा भग्न किए गये, उन कामसंज्ञक शत्रुओं की कौन खोज करे ? ॥ १७ ॥

उग्रायुधश्चोग्रधृतायुधोऽपि येषां कृते मृत्युमवाप भीष्मात् ।
चिन्तापि तेषामशिवा वधाय सद्वृत्तिनां किं पुनरव्रतानाम् ॥१८॥

उग्र अस्त्र धारण करनेवाले उग्रायुध ने भी जिनके कारण भीष्म से मौत पाई, उनकी चिन्ता भी अमङ्गलजनक है, और सदाचारियों के लिये भी घातक है, फिर अव्रतियों का क्या कहना ? ॥ १८ ॥

आस्वादमल्पं विषयेषु मत्वा संयोजनोत्कर्षमतृप्तिमेव ।
सद्भ्यश्च गर्हां नियतं च पापं कः कामसंज्ञं विषमाददीत ॥१९॥

विषयों में स्वाद कम है, बन्धन अधिक है, केवल अतृप्ति है,

सज्जनोंद्वारा निन्दा होती है, और पाप नियत है—ऐसा समझ कर कौन काम नामक विष को ग्रहण करे ?

कृष्यादिभिः कर्मभिरर्दितानां कामात्मकानां च निशम्य दुःखम् ।
स्वास्थ्यं च कामेष्वकुतूहलानां कामान्विहातुं क्षममात्मवद्भिः ॥२०॥

कृषि आदि कर्मों से पीड़ित रहनेवाले कामासक्तों का दुःख तथा काम के प्रति अनुत्सुक रहनेवालों का स्वास्थ्य (=सुख, प्रसन्नता) देखकर, आत्मवान् (=संयतात्मा) लोगों के लिए काम का त्याग करना ही उचित है ॥ २० ॥

ज्ञेया विपत्कामिनि कामसंपत्सिद्धेषु कामेषु मदं ह्युपैति ।
मदादकार्यं कुरुते न कार्यं येन क्षतो दुर्गतिमभ्युपैति ॥२१॥

कामी व्यक्ति में कामरूपी सम्पत्ति को विपत्ति ही समझना चाहिए; क्योंकि काम सिद्ध होने पर मद होता है। मद से मनुष्य अकार्य करता है, कार्य नहीं, जिससे घायल होकर वह दुर्गति को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

यत्नेन लब्धाः परिरक्षिताश्च ये विप्रलभ्य प्रतियान्ति भूयः ।
तेष्वात्मवान्याचितकोपमेषु कामेषु विद्वानिह को रमेत ॥२२॥

यत्नपूर्वक पाये गये और रखे गये जो (काम) ठगकर फिर चले जाते हैं, इस संसार में मांगी हुई वस्तुओं के समान उन कामों (=विषयों) में कौन आत्मवान् (=संयतात्मा) बुद्धिमान् रत होगा ? ॥ २२ ॥

अन्विष्य चादाय च जाततर्षा यानत्यजन्तः परियान्ति दुःखम् ।
लोके तृणोल्कासदृशेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२३॥

जिन्हें खोजकर और पाकर तृष्णा होती है, जिन्हें नहीं छोड़ने में (लोग) दुःख पाते हैं, संसार में तृणों की उल्का के समान उन कामों (=विषयों) में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २३ ॥

अनात्मवन्तो हृदि यैर्विदष्टा विनाशमर्छन्ति न यान्ति शर्म ।
क्रुद्धोग्रसर्पप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२४॥

अनात्मवान् (=असंयतात्मा) जिनके द्वारा हृदय में डसे जाने पर नष्ट हो जाते हैं, शान्ति नहीं पाते, क्रुद्ध उग्र सर्पों के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २४ ॥

अस्थि क्षुधार्ता इव सारमेया भुक्त्वापि यान्नैव भवन्ति तृप्ताः ।
जीर्णास्थिकङ्कालसमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२५॥

जैसे हड्डी चबाकर भी भूखे कुत्ते तृप्त नहीं होते हैं वैसे ही जिन्हें भोगकर भी (लोग) तृप्त नहीं होते हैं, जीर्ण अस्थि-पञ्जर (=पुरानी ठठरी) के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २५ ॥

ये राजचौरोदकपावकेभ्यः साधारणत्वाज्जनयन्ति दुःखम् ।
तेषु प्रविद्धामिषसंनिभेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२६॥

राजा चोर जल व अग्नि का सामान्य अधिकार होने के कारण जो (काम) दुःख पैदा करते हैं, विद्ध मांस (?) के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २६ ॥

यत्र स्थितानामभितो विपत्तिः शत्रोः सकाशादपि बान्धवेभ्यः ।
हिंस्रेषु तेष्वायतनोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ २७ ॥

जहाँ रहनेवालों पर चारों ओर से विपत्ति है, शत्रु के समीप से, और बंधुओं के समीप से, यज्ञशालाओं के समान उन हिंसक कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २७ ॥

गिरौ वने चाप्सु च सागरे च यान् भ्रंशमर्छन्ति विलङ्घमानाः ।
तेषु द्रुमप्राग्रफलोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ २८ ॥

२६,२७—काम=उपभोग की वस्तुएँ। सोने चाँदी के लाखों करोड़ों सिक्कों को मैं श्रेष्ठ धन नहीं कहता। उसमें तो भय-ही-भय है—राजा का अग्नि का, जल का, चोर का, लुटेरे का और अपने सगे संबंधियों तक का भय है—बु० वा०।

पर्वत पर, वन में, जल में और सागर में जिन्हें खोजते हुए भ्रष्ट होते हैं, वृक्ष-शिखर पर के फलों के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २८ ॥

तीव्रैः प्रयत्नैर्विविधैरवाप्ताः क्षणेन ये नाशमिह प्रयान्ति ।
स्वप्नोपभोगप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ २९ ॥

विविध तीव्र प्रयत्नों से प्राप्त होकर जो क्षण भर में इस संसार में नष्ट हो जाते हैं, स्वप्न-उपभोग के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २९ ॥

यानर्जयित्वापि न यान्ति शर्म विवर्धयित्वा परिपालयित्वा ।
अङ्गारकर्षूप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ३० ॥

जिन्हें अर्जन कर, बढ़ाकर और पालकर भी (लोग) शान्ति नहीं पाते, अंगारे की आग के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ ३० ॥

विनाशमीयुः कुरवो यदर्थं वृष्ण्यन्धका मेखलदण्डकाश्च ।
सूनासिकाष्ठप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ३१ ॥

जिनके लिए कौरव वृष्ण्यन्धक व मेखलदण्डक विनाश को प्राप्त हुए, बध-स्थल के छुरे व काठ के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ ३१ ॥

सुन्दोपसुन्दावसुरौ यदर्थमन्योन्यवैरप्रसृतौ विनष्टौ ।
सौहार्दविश्लेषकरेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ३२ ॥

जिनके लिए सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर, एक दूसरे के प्रति वैर बढ़ने पर, नष्ट हुए, मैत्री बिलगानेवाले उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ ३२ ॥

३१-३२ — जुए के लिए कौरवों का, मद्यपान के लिए वृष्ण्यन्धकों का और स्त्री के लिए सुन्द-उपसुन्द का विनाश हुआ ।

येषां कृते वारिणि पावके च क्रव्यात्सु चात्मानमिहोत्सृजन्ति ।
सपत्नभूतेष्वशिवेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ३३ ॥

जिनके लिए जल में, अग्नि में व हिंसक जीवों के आगे (लोग) अपने को उत्सर्ग (=समर्पित) कर देते हैं, शत्रुसदृश व अमङ्गलजनक उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ ३३ ॥

कामार्थमज्ञः कृपणं करोति प्राप्नोति दुःखं वधबन्धनादि ।
कामार्थमाशाकृपणस्तपस्वी मृत्युं श्रमं चार्छति जीवलोकः ॥ ३४ ॥

काम (=विषय) के लिए अज्ञानी क्षुद्रता करता है और वध-बन्धन आदि दुःख पाता है । तृष्णा से दीन हुआ बेचारा प्राणि-जगत् काम के लिए मौत व थकावट पाता है ॥ ३४ ॥

गीतैर्ह्रियन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमग्नौ शलभाः पतन्ति ।
मत्स्यो गिरत्यायसमामिषार्थी तस्मादनर्थं विषयाः फलन्ति ॥ ३५ ॥

गीतों से मृग वध के लिए हरे जाते हैं; रूप के लिए पतंग अग्नि में गिरते हैं; मांस चाहनेवाली मछली लोहे की कँटिया निगलती है; इसलिए विषयों का फल विपत्ति है ॥ ३५ ॥

कामास्तु भोगा इति यन्मतिः स्याद्भोगा न केचित्परिगण्यमानाः ।
वस्त्रादयो द्रव्यगुणा हि लोके दुःखप्रतीकार इति प्रधार्याः ॥ ३६ ॥

काम भोग हैं, ऐसा जो विचार है सो कोई भी काम भोग नहीं गिने जा सकते; क्योंकि वस्त्र आदि विषय दुःख के प्रतीकार हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

इष्टं हि तर्षप्रशमाय तोयं क्षुन्नाशहेतोरशनं तथैव ।
वातातपाम्ब्वावरणाय वेश्म कौपीनशीतावरणाय वासः ॥ ३७ ॥

प्यास मिटाने के लिए पानी इष्ट (=चाहा जाता) है, उसी प्रकार भूख मिटाने के लिए भोजन, हवा धूप व पानी से बचने के लिए घर, शीत-निवारण और लंगोटे के लिए वस्त्र ॥ ३७ ॥

निद्राविघाताय तथैव शय्या यानं तथाध्वश्रमनाशनाय।
तथासनं स्थानविनोदनाय स्नानं मृजारोग्यबलाश्रयाय ॥ ३८ ॥

उसी प्रकार निद्रा-विनाश के लिए शय्या, उसी तरह रास्ते की थकावट नष्ट करने के लिए गाड़ी, उसी तरह खड़ा रहना दूर करने के लिए आसन और मार्जन आरोग्य व बल प्राप्त करने के लिए स्नान (इष्ट है) ॥ ३८ ॥

दुःखप्रतीकारनिमित्तभूतास्तस्मात्प्रजानां विषया न भोगाः।
अश्नामि भोगानिति कोऽभ्युपेयात्प्राज्ञः प्रतीकारविधौ प्रवृत्तः ॥ ३९ ॥

इसलिए दुःख-प्रतीकार के कारण-स्वरूप विषय लोगों के लिए भोग नहीं हो सकते। (दुःख-) प्रतीकार-विधि में लगा हुआ कौन बुद्धिमान यह मानेगा—"मैं भोग कर रहा हूँ" ॥ ३९ ॥

यः पित्तदाहेन विदह्यमानः शीतक्रियां भोग इति व्यवस्येत्।
दुःखप्रतीकारविधौ प्रवृत्तः कामेषु कुर्यात्स हि भोगसंज्ञाम् ॥ ४० ॥

पित्त-ज्वर से जलता हुआ जो (आदमी) शीतोपचार को भोग समझेगा, दुःख-प्रतीकार-विधि में लगा हुआ वही (आदमी) कामों (=विषयों) को भोग समझेगा ॥ ४० ॥

कामेष्वनैकान्तिकता च यस्मादतोऽपि मे तेषु न भोगसंज्ञा।
य एव भावा हि सुखं दिशन्ति त एव दुःखं पुनरावहन्ति ॥४१॥

क्योंकि कामों (=विषयों) में ऐकान्तिकता (=एक अंत) नहीं है, इसलिए भी मैं कामों को भोग नहीं समझता। जो ही भाव सुख देते हैं, वे ही फिर दुःख लाते हैं ॥ ४१ ॥

गुरूणि वासांस्यगुरूणि चैव सुखाय शीते ह्यसुखाय घर्मे।
चन्द्रांशवश्चन्दनमेव चोष्णे सुखाय दुःखाय भवन्ति शीते ॥४२॥

क्योंकि, भारी वस्त्र और अगुरु से जाड़े में सुख होता है और गर्मी में असुख; चन्द्र-किरणों व चन्दन से गर्मी में सुख होता है और जाड़े में असुख ॥ ४२ ॥

द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥४३॥

क्योंकि संसार में हानि-लाभ आदि द्वन्द्व सब में लगे हुए हैं, इसलिए भी पृथिवी पर कोई पुरुष न तो एकान्त (=केवल) सुखी है और न एकान्त दुःखी ॥ ४३ ॥

दृष्ट्वा विमिश्रां सुखदुःखतां मे राज्यं च दास्यं च मतं समानम् ।
नित्यं हसत्येव हि नैव राजा न चापि संतप्यत एव दासः ॥४४॥

दुःख व सुख को मिला हुआ देखकर, राज्य व दासत्व को मैं समान मानता हूँ । न तो राजा ही नित्य हँसता है और न दास ही नित्य संतप्त होता है ॥ ४४ ॥

आज्ञा नृपत्वेऽभ्यधिकेति यत्स्यान्महान्ति दुःखान्यत एव राज्ञः ।
आसङ्गकाष्ठप्रतिमो हि राजा लोकस्य हेतोः परिखेदमेति ॥४५॥

यह कि राजत्व में आज्ञा अधिक है, इसीलिए तो राजा को बड़े बड़े दुःख होते हैं । आसङ्ग-काष्ठ (?) के समान राजा संसार के लिए थकता है ॥ ४५ ॥

राज्ये नृपस्त्यागिनि बह्वमित्रे विश्वासमागच्छति चेद्विपन्नः ।
अथापि विश्रम्भमुपैति नेह किं नाम सौख्यं चकितस्य राज्ञः ॥४६॥

त्याग करनेवाले (=क्षण-भंगुर) व बहुत शत्रुओं से भरे राज्य में यदि (राजा) विश्वास करता है, तो मरता है और यदि इस संसार में विश्वास नहीं करता है, तो भय-भीत रहनेवाले राजा को सुख क्या? ॥४६॥

यदा च जित्वापि महीं समग्रां वासाय दृष्टं पुरमेकमेव ।
तत्रापि चैकं भवनं निषेव्यं श्रमः परार्थे ननु राजभावः ॥४७॥

और जब कि सारी पृथ्वी को जीतकर भी रहने के लिए वह एक ही नगर को देखता है, और उसमें भी उसे एक ही महल का सेवन करना पड़ता है, तब अवश्य ही राजत्व दूसरों के लिए श्रम है ॥ ४७ ॥

राज्ञोऽपि वासोयुगमेकमेव क्षुत्संनिरोधाय तथान्नमात्रा ।
शय्या तथैकासनमेकमेव शेषा विशेषा नृपतेर्मदाय ॥४८॥

राजा के लिए भी एक ही जोड़ा वस्त्र, उसी तरह क्षुधा-निवृत्ति के लिए कुछ अन्न, उसी तरह एक शय्या और एक ही आसन (आवश्यक हैं); राजा की शेष विशेषताएँ तो मद (पैदा करने) के लिए हैं ॥४८॥

तुष्ट्यर्थमेतच्च फलं यदीष्टमृतेऽपि राज्यान्मम तुष्टिरस्ति ।
तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः ॥४९॥

और यदि संतोष के लिए यह फल इष्ट है, तो राज्य के बिना भी मुझे संतोष है। संसार में मनुष्य को संतोष होने पर सब विशेषताएँ विशेषता-रहित हैं ॥ ४९ ॥

तन्नास्मि कामान् प्रति संप्रतार्यः क्षेमं शिवं मार्गमनुप्रपन्नः ।
स्मृत्वा सुहृत्त्वं तु पुनः पुनर्मां ब्रूहि प्रतिज्ञां खलु पालयेति ॥५०॥

इसलिए कामों के प्रति मैं बहकाया नहीं जा सकता, मङ्गलमय व कल्याण-कारी मार्ग की शरण में हूँ। मित्रता को स्मरण कर आप बार बार मुझसे कहें—"अवश्य प्रतिज्ञा पालन करो" ॥ ५० ॥

न ह्यस्म्यमर्षेण वनं प्रविष्टो न शत्रुबाणैरवधूतमौलिः ।
कृतस्पृहो नापि फलाधिकेभ्यो गृह्णामि नैतद्वचनं यतस्ते ॥५१॥

न तो क्रोध से मैंने वन में प्रवेश किया है, और न शत्रु के बाणों से मुकुट कँपाये जाने पर ही। न तो अधिक फल के लिए अभिलाषा करता हूँ, जिससे आपकी यह बात न मान रहा हूँ ॥ ५१ ॥

यो दन्दशूकं कुपितं भुजङ्गं मुक्त्वा व्यवस्येद्धि पुनर्ग्रहीतुम् ।
दाहात्मिकां वा ज्वलितां तृणोल्कां संत्यज्य कामान्स पुनर्भजेत ॥५२॥

जो डसनेवाले कुपित साँप को, या जलानेवाली जलती उल्का को छोड़कर फिर से पकड़ने का विचार करे, वही कामों को छोड़कर फिर उनका सेवन करे ॥ ५२ ॥

अन्धाय यश्च स्पृहयेदनन्धो बद्धाय मुक्तो विधनाय चाढ्यः ।
उन्मत्तचित्ताय च कल्यचित्तः स्पृहां स कुर्याद्विषयात्मकाय ॥५३॥

जो दृष्टिवान् दृष्टि-हीन (होने) के लिए और जो मुक्त (पुरुष) बन्दी (होने) के लिए, और जो धनी निर्धन (होने) के लिए और जो स्वस्थ-चित्त उन्मत्त-चित्त (होने) के लिए अभिलाषा करे, वही विषयी (होने) के लिए अभिलाषा करे ॥ ५३ ॥

भैक्षोपभोगीति च नानुकम्प्यः कृती जरामृत्युभयं तितीर्षुः ।
इहोत्तमं शान्तिसुखं च यस्य परत्र दुःखानि च संवृतानि ॥५४॥

"भिक्षा पर रहता है" इसलिए वह बुद्धिमान् अनुकम्पा के योग्य नहीं जो जरा व मृत्यु का भय पार करना चाहता है, जिसको इस संसार में उत्तम शान्ति-सुख प्राप्त है और परलोक में जिसके दुःख नष्ट हैं ॥५४॥

लक्ष्म्यां महत्यामपि वर्तमानस्तृष्णाभिभूतस्त्वनुकम्पितव्यः ।
प्राप्नोति यः शान्तिसुखं न चेह परत्र दुःखैः प्रतिगृह्यते च ॥५५॥

महती लक्ष्मी (की गोद) में रहता हुआ भी तृष्णा से अभिभूत पुरुष अनुकम्पा के योग्य है, जो इस लोक में शान्ति-सुख नहीं पाता और जो पर-लोक में दुःखों से ग्रस्त होता है ॥ ५५ ॥

एवं तु वक्तुं भवतोऽनुरूपं सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ।
ममापि वोढुं सदृशं प्रतिज्ञां सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ॥५६॥

ऐसा कहना आपके सत्त्व आचार और कुल के अनुरूप है, मेरे लिए भी प्रतिज्ञा पालन करना मेरे सत्त्व आचार और कुल के योग्य है ॥ ५६ ॥

अहं हि संसारशरेण विद्धो विनिःसृतः शान्तिमवाप्तुकामः ।
नेच्छेयमाप्तुं त्रिदिवेऽपि राज्यं निरामयं किं बत मानुषेषु ॥५७॥

संसाररूप तीर से विद्ध होकर शान्ति पाने की इच्छा से मैं (घर से) निकला हूँ, स्वर्ग का भी निष्कण्टक राज्य नहीं पाना चाहता हूँ, मर्त्य-लोक का क्या कहना ॥ ५७ ॥

त्रिवर्गसेवां नृप यत्तु कृत्स्नतः परो मनुष्यार्थ इति त्वमात्थ माम् ।
अनर्थ इत्येव ममात्र दर्शनं क्षयी त्रिवर्गो हि न चापि तर्पकः ॥५८॥

पूरा पूरा त्रिवर्ग-सेवन परम पुरुषार्थ है, हे राजन्, यह जो आपने मुझे कहा, इसमें मैं अनर्थ ही देखता हूँ; क्योंकि त्रिवर्ग नाशवान् है और तृप्ति-दायक भी नहीं है ॥ ५८ ॥

पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः ।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥५९॥

जिसमें न जरा है, न भय, न रोग, न जन्म न मृत्यु, और न आधि, उसी पद को मैं उत्तम पुरुषार्थ मानता हूँ जिसमें बार बार कर्म नहीं करना पड़ता है ॥ ५९ ॥

यदप्यवोचः परिपाल्यतां जरा नवं वयो गच्छति विक्रियामिति ।
अनिश्चयोऽयं बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा धृतिमच्च यौवनम् ॥६०॥

यह जो कहा कि जरा की प्रतीक्षा करो, नई वयस में विकार होता है, यह निश्चित नहीं है; क्योंकि बहुधा देखा जाता है कि बुढ़ापे में भी अधैर्य है और जवानी में भी धैर्य ॥ ६० ॥

स्वकर्मदक्षश्च यदान्तको जगद् वयःसु सर्वेष्ववशं विकर्षति ।
विनाशकाले कथमव्यवस्थिते जरा प्रतीक्ष्या विदुषा शमेप्सुना ॥६१॥

जब कि अपने कर्म में निपुण यम विवश जगत् को सब अवस्थाओं में दूर खींच रहा है, तब विनाश-काल अनिश्चित होने पर शान्ति पाने का इच्छुक बुद्धिमान् क्यों बुढ़ापे की प्रतीक्षा करे ? ॥ ६१ ॥

जरायुधो व्याधिविकीर्णसायको यदान्तको व्याध इवाशिवः स्थितः ।
प्रजामृगान् भाग्यवनाश्रितांस्तुदन् वयःप्रकर्षं प्रति को मनोरथः ॥६२॥

जब कि जरा-रूप-शस्त्र-धारी यम अमङ्गल व्याध के समान खड़ा होकर व्याधिरूप तीरों को बिखेरता हुआ भाग्य-रूप वन में आश्रित प्रजा

६०—"चपलं" की जगह "बहुशः" रखा गया है।

रूप मृगों को पीड़ित कर रहा है, तब बुढ़ापे (में धर्म करने) की क्या चाह हो सकती ? ॥ ६२ ॥

अतो युवा वा स्थविरोऽथवा शिशुस्तथा त्वरावानिह कर्तुमर्हति ।
यथा भवेद्धर्मवतः कृतात्मनः प्रवृत्तिरिष्टा विनिवृत्तिरेव वा ॥६३॥

इसलिए युवा हो, या वृद्ध, या शिशु, उसे यहाँ ऐसी शीघ्रता करनी चाहिए, जिससे धर्मात्मा व शुद्धात्मा होकर (स्वर्ग-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट प्रवृत्ति या (मोक्ष-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट निवृत्ति प्राप्त करे ॥ ६३ ॥

यदात्थ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति ।
नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते ॥६४॥

यह जो कहा कि इष्ट फल देनेवाली कुलोचित यज्ञ-क्रिया धर्म के लिए करो; यज्ञों को प्रणाम है, मैं वह सुख नहीं चाहता, जो दूसरों को दुःख देकर चाहा जाता है ॥ ६४ ॥

परं हि हन्तुं विवशं फलेप्सया न युक्तरूपं करुणात्मनः सतः ।
क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत्तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम् ॥६५॥

जो दयावान् है उसके लिए फल पाने की इच्छा से दूसरे विवश जीव की हत्या करना ठीक नहीं। यदि यज्ञ का फल शाश्वत भी हो, तो भी वह करके क्या जो हिंसात्मक है ? ॥ ६५ ॥

भवेच्च धर्मो यदि नापरो विधिर्व्रतेन शीलेन मनःशमेन वा ।
तथापि नैवार्हति सेवितुं क्रतुं विशस्य यस्मिन् परमुच्यते फलम् ॥६६॥

यदि व्रत, शील या मानसिक शान्तिद्वारा धर्म होने का दूसरा उपाय न हो, तो भी यज्ञ का सेवन नहीं करना चाहिए, जिसमें दूसरे को मारकर फल प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है ॥ ६६ ॥

इहापि तावत्पुरुषस्य तिष्ठतः प्रवर्तते यत्परहिंसया सुखम् ।
तदप्यनिष्टं सघृणस्य धीमतो भवान्तरे किं बत यन्न दृश्यते ॥६७॥

इस लोक में रहते हुए पुरुष को पर-हिंसा से जो सुख होता है, वह

भी दयावान् बुद्धिमान् के लिए इष्ट नहीं ; दूसरे जन्म में जो दिखाई नहीं पड़ रहा है उसका क्या ? ॥ ६७ ॥

न च प्रतार्योऽस्मि फलप्रवृत्तये भवेषु राजन् रमते न मे मनः ।
लता इवाम्भोधरवृष्टिताडिताः प्रवृत्तयः सर्वगता हि चञ्चलाः ॥६८॥

और फल के लिए प्रवृत्ति की ओर मैं नहीं बहकाया जा सकता हूँ, जन्म-चक्र में, हे राजन्, मेरा मन नहीं लग रहा है। बादल की वृष्टि से ताड़ित लता के समान यह सर्वव्यापी प्रवृत्ति चञ्चल है ॥ ६८ ॥

इहागतश्चाहमितो दिदृक्षया मुनेरराडस्य विमोक्षवादिनः ।
प्रयामि चाद्यैव नृपास्तु ते शिवं वचः क्षमेथा मम तत्त्वनिष्ठुरम् ॥६९॥

यहाँ आया हूँ और मोक्ष-वादी मुनि अराड को देखने की इच्छा से आज ही यहाँ से जा रहा हूँ। हे राजन्, आपका कल्याण हो, मेरे सत्य-निष्ठुर वचन को क्षमा कीजिये ॥ ६९ ॥

अवेन्द्रवद्दिव्यव शश्वदर्कवद्गुणैरव श्रेय इहाव गामव ।
अवायुरार्यैरव सत्सुतानव श्रियश्च राजन्नव धर्ममात्मनः ॥७०॥

इन्द्र के समान रक्षा कीजिए, आकाश के सूर्य के समान सदा रक्षा कीजिए, अपने आर्य (= उत्तम) गुणों से इस लोक में कल्याण की रक्षा कीजिए, पृथ्वी की रक्षा कीजिए, आयु की रक्षा कीजिए, सत्पुत्रों की रक्षा कीजिए, हे राजन्, लक्ष्मी व अपने धर्म की रक्षा कीजिए ॥ ७० ॥

हिमारिकेतूद्भवसंभवान्तरे यथा द्विजो याति विमोक्षयंस्तनुम् ।
हिमारिशत्रुक्षयशत्रुघातने तथान्तरे याहि विमोक्षयन्मनः ॥७१॥

जैसे अग्नि-पताका (= धूम) से उत्पन्न होनेवाले (= बादल) से

६८—किसी जीव का जन्म बराबर एक ही योनि में नहीं होता है, वह भिन्न-भिन्न योनि में पैदा होता रहता है, और कभी वह स्वर्ग में रहता है तो कभी नरक में ; इसलिए प्रवृत्ति को सर्वव्यापी और चञ्चल कहा गया है।

वृष्टि होने पर अग्नि अपनी बाहरी आकृति को छोड़ देती है (या साँप अपनी केंचुल छोड़ता है), वैसे ही सूर्य-शत्रु (=तम) का विनाश करने में जो शत्रु (=विघ्न) हैं उनकी हत्या करते समय अपना मन मुक्त कीजिए" ॥ ७१ ॥

नृपोऽब्रवीत्साञ्जलिरागतस्पृहो यथेष्टमाप्नोतु भवानविघ्नतः ।
अवाप्य काले कृतकृत्यतामिमां ममापि कार्यो भवता त्वनुग्रहः ॥७२॥

राजा ने हाथ जोड़कर अभिलाषापूर्वक कहा—"आप यथेष्ट सफलता निर्विघ्न प्राप्त करें और इसे प्राप्त कर समय पर मेरे ऊपर भी आप अनुग्रह कीजिएगा" ॥ ७२ ॥

स्थिरं प्रतिज्ञाय तथेति पार्थिवे ततः स वैश्वंतरमाश्रमं ययौ ।
परिव्रजन्तं तमुदीक्ष्य विस्मितो नृपोऽपि वव्राज पुरिं गिरिव्रजम् ॥७३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये कामविगर्हणो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

तब "वैसा ही हो" इस तरह राजा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा कर, वह वैश्वंतर-आश्रम की ओर गया। उसे जाते देखकर विस्मित हुआ राजा भी गिरि-व्रज पुरी (=राजगृह) को चला गया ॥ ७३ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "काम-निन्दा" नामक ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ।

बारहवाँ सर्ग

अराड-दर्शन

ततः शमविहारस्य मुनेरिक्ष्वाकुचन्द्रमाः ।
अराडस्याश्रमं भेजे वपुषा पूरयन्निव ॥ १ ॥

तब इक्ष्वाकु - (वंश का) चन्द्रमा शम धर्म में विहार करनेवाले अराड के आश्रम में गया, उस (आश्रम) को वह (राज-कुमार) अपने रूप से मानो भर रहा था ॥ १ ॥

स कालामसगोत्रेण तेनालोक्यैव दूरतः ।
उच्चैः स्वागतमित्युक्तः समीपमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

कालाम गोत्र के उस मुनि ने दूर ही से उसे देखकर जोर से 'स्वागत' शब्द कहा, और वह (कुमार) उसके समीप गया ॥ २ ॥

तावुभौ न्यायतः पृष्ट्वा धातुसाम्यं परस्परम् ।
दारव्योर्मेध्ययोर्वृष्योः शुचौ देशे निषेदतुः ॥ ३ ॥

वे दोनों न्यायपूर्वक परस्पर धातु-साम्य (=स्वास्थ्य) पूछकर पवित्र स्थान में काठ के दो पवित्र आसनों पर बैठ गये ॥ ३ ॥

तमासीनं नृपसुतं सोऽब्रवीन्मुनिसत्तमः ।
बहुमानविशालाभ्यां दर्शनाभ्यां पिबन्निव ॥ ४ ॥

उस मुनि-श्रेष्ठ ने, सम्मान के कारण अपनी विकसित आँखों से, बैठे हुए उस राज-कुमार को मानो पीते हुए कहा:—॥ ४ ॥

विदितं मे यथा सौम्य निष्क्रान्तो भवनादसि ।
छित्त्वा स्नेहमयं पाशं पाशं दृप्त इव द्विपः ॥ ५ ॥

"हे सौम्य, मुझे मालूम है कि आप किस प्रकार घर से निकले हैं ;

जैसे गर्वीला हाथी बन्धन को काट कर (निकलता है), वैसे ही स्नेहमय बन्धन को काट कर आप निकले हैं ॥ ५ ॥

सर्वथा धृतिमच्चैव प्राज्ञं चैव मनस्तव ।
यस्त्वं प्राप्तः श्रियं त्यक्त्वा लतां विषफलामिव ॥ ६ ॥

आपका मन सब प्रकार से धैर्यवान् व ज्ञानवान् है जो आप विषाक्त फलवाली लता की तरह लक्ष्मी को तजकर आये हैं ॥ ६ ॥

नाश्चर्यं जीर्णवयसो यज्जग्मुः पार्थिवा वनम् ।
अपत्येभ्यः श्रियं दत्त्वा भुक्तोच्छिष्टामिव स्रजम् ॥ ७ ॥

(इसमें कुछ) आश्चर्य नहीं कि बूढ़े होने पर राजा लोग अपनी संतानों को उपभोग की गई जूठी माला की तरह राज्य-लक्ष्मी सौंपकर वन गये ॥ ७ ॥

इदं मे मतमाश्चर्यं नवे वयसि यद्भवान ।
अभुक्त्वैव श्रियं प्राप्तः स्थितो विषयगोचरे ॥ ८ ॥

इसे मैं आश्चर्य मानता हूँ कि आप, नई वयस में विषयों की गोचर-भूमि में रहते हुए, लक्ष्मी का उपभोग किये बिना ही आ गये हैं ॥ ८ ॥

तद्विज्ञातुमिमं धर्मं परमं भाजनं भवान ।
ज्ञानप्लवमधिष्ठाय शीघ्रं दुःखार्णवं तर ॥ ९ ॥

इसलिए इस परम धर्म को जानने के लिए आप उत्तम पात्र हैं; ज्ञानरूप नाव पर चढ़कर दुःखरूप सागर को शीघ्र पार कीजिए ॥ ९ ॥

शिष्ये यद्यपि विज्ञाने शास्त्रं कालेन वर्ण्यते ।
गाम्भीर्याद्व्यवसायाच्च न परीक्ष्यो भवान्मम ॥१०॥

यद्यपि शिष्य को जानने के बाद समय पर शास्त्र बताया जाता है, किंतु आपकी गम्भीरता व निश्चय के कारण मैं आपकी परीक्षा नहीं करूँगा" ॥ १० ॥

इति वाक्यमराडस्य विज्ञाय स नरर्षभः ।
बभूव परमप्रीतः प्रोवाचोत्तरमेव च ॥११॥

अराड की यह बात जानकर वह नर-श्रेष्ठ परम प्रसन्न हुआ और उत्तर दियाः—॥ ११ ॥

विरक्तस्यापि यदिदं सौमुख्यं भवतः परम् ।
अकृतार्थोऽप्यनेनास्मि कृतार्थ इव संप्रति ॥१२॥

"विरक्त होने पर भी आपकी जो यह अत्यन्त अनुकूलता है, अकृतार्थ होने पर भी मैं इससे इस समय कृतार्थ-सा हूँ ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरिव हि ज्योतिर्यियासुरिव दैशिकम् ।
त्वद्दर्शनमहं मन्ये तितीर्षुरिव च प्लवम् ॥१३॥

आपके दर्शन को मैं वैसा ही मान रहा हूँ, जैसा कि देखने की इच्छा करनेवाला प्रकाश को, यात्रा की इच्छा करनेवाला (मार्ग) बतानेवाले को, और (नदी) पार करने की इच्छा करनेवाला नाव को मानता है ॥ १३ ॥

तस्मादर्हसि तद्वक्तुं वक्तव्यं यदि मन्यसे ।
जरामरणरोगेभ्यो यथायं परिमुच्यते ॥१४॥

इसलिए यदि आप कहने योग्य समझें, तो आप को वह कहना चाहिए जिससे यह व्यक्ति जरा मरण व रोग से मुक्त हो जाय" ॥ १४ ॥

इत्यराडः कुमारस्य माहात्म्यादेव चोदितः ।
संक्षिप्तं कथयांचक्रे स्वस्य शास्त्रस्य निश्चयम् ॥१५॥

कुमार के माहात्म्य से ही प्रेरित होकर, अराड ने अपने शास्त्र का संक्षिप्त निश्चय इस प्रकार कहाः— ॥ १५ ॥

श्रूयतामयमस्माकं सिद्धान्तः शृण्वतां वर ।
यथा भवति संसारो यथा चैव निवर्तते ॥१६॥

"हे श्रोताओं में श्रेष्ठ, हमारा यह सिद्धान्त सुनिये कि कैसे यह संसार प्रवृत्त होता है और कैसे निवृत्त होता है ॥ १६ ॥

प्रकृतिश्च विकारश्च जन्म मृत्युर्जरैव च ।
तत्तावत्सत्त्वमित्युक्तं स्थिरसत्त्व परेहि तत् ॥१७॥

हे स्थिर-सत्त्व, इसे समझिये; प्रकृति, विकार, जन्म, जरा व मृत्यु को ही सत्त्व कहा गया है ॥ १७ ॥

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥१८॥

हे प्रकृति को जाननेवाले, उसमें पाँच (महा-) भूतों, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त को प्रकृति जानिये ॥ १८ ॥

विकार इति बुध्यस्व विषयानिन्द्रियाणि च ।
पाणिपादं च वाचं च पायूपस्थं तथा मनः ॥१९॥

विषयों, इन्द्रियों, हाथ-पाँव, वाणी, गुदा, जननेन्द्रिय व मन को विकार समझिये ॥ १९ ॥

अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात्क्षेत्रज्ञ इति संज्ञि च ।
क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ॥२०॥

और संज्ञावान् (=चेतनावान्, होशवाला) इस क्षेत्र को जानने के कारण क्षेत्रज्ञ है । और आत्मा की चिन्ता करनेवाले लोग आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २० ॥

सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः ।
सपुत्रः प्रतिबुद्धस्तु प्रजापतिरिहोच्यते ॥२१॥

और इस संसार में शिष्यों सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है,

२१—"प्रतिबुद्धिरिति स्मृतिः" के स्थान में "प्रतिबुद्ध इति स्मृतः" रक्खा गया है । यह एक दुर्बोध श्लोक है । इस दुर्बोधता का कारण पाठ-दोष ही जान पड़ता है । श्लोक-संख्या २९,४०, और २२ को देखते हुए, इसके तीसरे चरण में "प्रतिबुद्ध" की जगह "अप्रतिबुद्ध" पढ़ना ठीक होगा । तब अर्थ यों हो—"और, इस संसार में शिष्यों-सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है और पुत्रों सहित प्रजापति (भूतात्मा, मार) अज्ञानी कहा जाता है ।"

उसने पुत्रों सहित ज्ञान प्राप्त किया और वह इस संसार में प्रजापति कहा जाता है ॥ २१ ॥

जायते जीर्यते चैव बाध्यते म्रियते च यत् ।
तद्व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययात् ॥२२॥

जो जन्म लेता है, बूढ़ा होता है, पीड़ित होता है और मरता है उसे व्यक्त समझना चाहिए और जो इसका विपरीत (उलटा) है उसे अव्यक्त समझना चाहिए ॥ २२ ॥

अज्ञानं कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संहारहेतवः ।
स्थितोऽस्मिंस्त्रितये जन्तुस्तत्सत्त्वं नातिवर्तते ॥२३॥

अज्ञान, कर्म व तृष्णा संसार के कारण-स्वरूप हैं। इन तीनों में रहनेवाला प्राणी उस सत्त्व (=प्रकृति विकार जन्म जरा व मृत्यु) के पार नहीं जा सकता ॥ २३ ॥

विप्रत्ययादहङ्कारात्संदेहादभिसंप्लवात् ।
अविशेषानुपायाभ्यां सङ्गादभ्यवपाततः ॥२४॥

विप्रत्यय, अहङ्कार, संदेह, अभिसंप्लव, अविशेष, अनुपाय, सङ्ग और अभ्यवपात के कारण (प्राणी उस सत्त्व के पार नहीं जा सकता) ॥२४॥

तत्र विप्रत्ययो नाम विपरीतं प्रवर्तते ।
अन्यथा कुरुते कार्यं मन्तव्यं मन्यतेऽन्यथा ॥२५॥

उसमें विप्रत्यय (=अविश्वास, मिथ्या विश्वास) विपरीत आचरण करता है, जो करना है उसे अन्यथा करता है, जो विचारना है उसे अन्यथा विचारता है ॥ २५ ॥

ब्रवीम्यहमहं वेद्मि गच्छाम्यहमहं स्थितः ।
इतीहैवमहंकारस्त्वनहंकार वर्तते ॥२६॥

हे अहङ्कार-रहित, मैं बोलता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं खड़ा हूँ, इस प्रकार इस संसार में अहङ्कार होता है ॥ २६ ॥

यस्तु भावानसंदिग्धानेकीभावेन पश्यति ।
मृत्पिण्डवदसंदेह संदेहः स इहोच्यते ॥२७॥

हे संदेह-रहित, जो परस्पर नहीं मिली हुई चीजों को मिट्टी के ढेले के समान एक (=ठोस) देखता है, वह इस संसार में संदेह कहा जाता है ॥ २७ ॥

य एवाहं स एवेदं मनो बुद्धिश्च कर्म च ।
यश्चैवैष गणः सोऽहमिति यः सोऽभिसंप्लवः ॥२८॥

जो ही मैं हूँ वही यह मन बुद्धि व कर्म है, और (मन बुद्धि व कर्म का) जो यह समूह है वही मैं हूँ, ऐसा जो है वह अभिसंप्लव है ॥ २८ ॥

अविशेषं विशेषज्ञ प्रतिबुद्धाप्रबुद्धयोः ।
प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥२९॥

हे विशेषज्ञ, जो ज्ञानी व अज्ञानी के बीच तथा प्रकृतियों के बीच अविशेष (=अभेद, भेद नहीं) जानता है वह अविशेष स्मरण किया गया है ॥ २९ ॥

नमस्कारवषट्कारौ प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः ।
अनुपाय इति प्राज्ञैरुपायज्ञ प्रवेदितः ॥३०॥

नमस्कार, वषट्कार (=आहुति), सिञ्चनआदि को, हे उपायज्ञ, बुद्धिमानों ने अनुपाय (=अनुचित उपाय) बताया है ॥ ३० ॥

सज्जते येन दुर्मेधा मनोवाग्बुद्धिकर्मभिः ।
विषयेष्वनभिष्वङ्ग सोऽभिष्वङ्ग इति स्मृतः ॥३१॥

जिससे दुर्बुद्धि पुरुष मन वाणी बुद्धि व कर्मद्वारा विषयों में आसक्त होता है, वह, हे आसक्ति-रहित, सङ्ग (=आसक्ति) स्मरण किया गया है ॥ ३१ ॥

ममेदमहमस्येति यद्दुखमभिमन्यते ।
विज्ञेयोऽभ्यवपातः स संसारे येन पात्यते ॥३२॥

"मेरा यह है, मैं इसका हूँ" इस दुःख के अभिमान को अभ्य-वपात जानना चाहिए जिसके द्वारा संसार में पतन होता है ॥ ३२ ॥

इत्यविद्यां हि विद्वान्स पञ्चपर्वा समीहते ।
तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च ॥३३॥

वह विद्वान् कहता है कि अविद्या पाँच पर्वों (=ग्रन्थियों) की होती है—तम, मोह, महामोह और दो तामिस्र ॥ ३३ ॥

तत्रालस्यं तमो विद्धि मोहं मृत्युं च जन्म च ।
महामोहस्त्वसंमोह काम इत्येव गम्यताम् ॥३४॥

उनमें आलस्य को तम, जन्म व मृत्यु को मोह जानिये। हे मोह-रहित, काम ही महामोह है, ऐसा समझिये ॥ ३४ ॥

यस्मादत्र च भूतानि प्रमुह्यन्ति महान्त्यपि ।
तस्मादेष महाबाहो महामोह इति स्मृतः ॥३५॥

जिस कारण इस (काम) में बड़े बड़े प्राणी भी मूढ़ हो जाते हैं, इस कारण, हे महाबाहो, यह महामोह स्मरण किया गया है ॥ ३५ ॥

तामिस्रमिति चाक्रोध क्रोधमेवाधिकुर्वते ।
विषादं चान्धतामिस्रमविषाद प्रचक्षते ॥३६॥

हे क्रोध-रहित, क्रोध को ही तामिस्र कहते हैं और हे विषाद-रहित, विषाद को अन्ध-तामिस्र कहते हैं ॥ ३६ ॥

अनयाविद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया ।
संसारे दुःखभूयिष्ठे जन्मस्वभिनिषिच्यते ॥३७॥

पांच पर्वोंवाली इस अविद्या से युक्त होकर मूर्ख दुःख बहुल संसार में बार बार जन्म लेता है ॥ ३७ ॥

द्रष्टा श्रोता च मन्ता च कार्यकरणमेव च ।
अहमित्येवमागम्य संसारे परिवर्तते ॥३८॥

"द्रष्टा श्रोता चिन्तक व कार्य का साधक मैं ही हूँ" ऐसा समझकर वह संसार में भटकता है ॥ ३८ ॥

इहैभिर्हेतुभिर्धीमन् जन्मस्रोतः प्रवर्तते ।
हेत्वभावात्फलाभाव इति विज्ञातुमर्हसि ॥३९॥

इस संसार में इन कारणों से, हे धीमन्, जन्म का सोता चलता रहता है। कारण नहीं होने से फल नहीं हो सकता, ऐसा आपको जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

तत्र सम्यङ्मतिर्विद्यान्मोक्षकाम चतुष्टयम् ।
प्रतिबुद्धाप्रबुद्धौ च व्यक्तमेवमव्यक्तमेव च ॥४०॥

इसमें, हे मोक्ष के इच्छुक, सम्यक् बुद्धिवाले को (यह) चार जानना चाहिए—ज्ञानी-अज्ञानी और व्यक्त-अव्यक्त ॥ ४० ॥

यथावदेतद्विज्ञाय क्षेत्रज्ञो हि चतुष्टयम् ।
आजवंजवतां हित्वा प्राप्नोति पदमक्षरम् ॥४१॥

इन चारों को ठीक ठीक जानकर क्षेत्रज्ञ जन्म-मरण की वेगवती धारा को छोड़ देता है और अविनाशी पद प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

इत्यर्थं ब्राह्मणा लोके परमब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्मचर्यं चरन्तीह ब्राह्मणान्वासयन्ति च ॥४२॥

इसके लिए संसार में परमब्रह्म-वादी ब्राह्मण ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं और ब्राह्मणों को इसकी शिक्षा देते हैं" ॥ ४२ ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा मुनेस्तस्य नृपात्मजः ।
अभ्युपायं च प्रपच्छ पदमेव च नैष्ठिकम् ॥४३॥

उस मुनि की यह बात सुन कर राजा के पुत्र ने उपाय और नैष्ठिक पद के बारे में पूछाः— ॥ ४३ ॥

ब्रह्मचर्यमिदं चर्यं यथा यावच्च यत्र च ।
धर्मस्यास्य च पर्यन्तं भवान्व्याख्यातुमर्हति ॥४४॥

"इस ब्रह्मचर्य का आचरण जैसे जितना और जहाँ करना चाहिए, और इस धर्म का जो अन्त है उसकी आप व्याख्या कीजिए।" ॥ ४४ ॥

इत्यराडो यथाशास्त्रं विस्पष्टार्थं समासतः ।
तमेवान्येन कल्पेन धर्ममस्मै व्यभाषत ॥४५॥

अराड ने शास्त्रानुसार उसी धर्म को उसके लिए अन्य तरीके से संक्षेप में स्पष्ट शब्दों में कहा:— ॥ ४५ ॥

अयमादौ गृहान्मुक्त्वा भैक्षाकं लिङ्गमाश्रितः ।
समुदाचारविस्तीर्णं शीलमादाय वर्तते ॥४६॥

"आरम्भ में घर छोड़कर वह भिक्षु-वेष धारण करता है और सदाचार-व्यापी शील ग्रहण करता है ॥ ४६ ॥

संतोषं परमास्थाय येन तेन यतस्ततः ।
विविक्तं सेवते वासं निर्द्वन्द्वः शास्त्रवित्कृती ॥४७॥

जहाँ तहाँ से जो कुछ मिल जाता है उसीसे परम संतोष पाकर वह निर्द्वन्द्व शास्त्रज्ञ व बुद्धिमान् एकान्त-निवास का सेवन करता है ॥ ४७ ॥

ततो रागाद्भयं दृष्ट्वा वैराग्याच्च परं शिवम् ।
निगृह्णन्निन्द्रियग्रामं यतते मनसः शमे ॥४८॥

तब राग से भय (की उत्पत्ति) और वैराग्य से परम कल्याण (की उत्पत्ति) देखकर इन्द्रिय-समूह का निग्रह करता हुआ वह मानसिक शान्ति के लिए यत्न करता है ॥ ४८ ॥

अथो विविक्तं कामेभ्यो व्यापादादिभ्य एव च ।
विवेकजमवाप्नोति पूर्वध्यानं वितर्कवत् ॥४९॥

तब वह काम व व्यापाद (=पर-द्रोह-चिन्तन, क्रोध) आदि से रहित, विवेक-जन्य और वितर्क-युक्त पूर्व ध्यान प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

तच्च ध्यानसुखं प्राप्य तत्तदेव वितर्कयन् ।
अपूर्वसुखलाभेन ह्रियते बालिशो जनः ॥५०॥

और उस ध्यान-सुख को पाकर, उसीकी चिन्ता करता हुआ, मूर्ख आदमी अपूर्व सुख की प्राप्तिद्वारा हरण किया जाता है ॥ ५० ॥

शमेनैवंविधेनायं कामद्वेषविगर्हिणा ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति परितोषेण वञ्चितः ॥५१॥

काम-द्वेष-विरोधिनी ऐसी शान्तिद्वारा वह सन्तुष्ट होकर ब्रह्म-लोक प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

ज्ञात्वा विद्वान्वितर्कांस्तु मनःसंक्षोभकारकान् ।
तद्वियुक्तमवाप्नोति ध्यानं प्रीतिसुखान्वितम् ॥५२॥

किंतु वितर्क (=विचार) मन को क्षुब्ध करते हैं, ऐसा जानकर विद्वान् उन (वितर्कों) से वियुक्त और प्रीति-सुख से युक्त ध्यान प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥

ह्रियमाणस्तया प्रीत्या यो विशेषं न पश्यति ।
स्थानं भास्वरमाप्नोति देवेष्वाभास्वरेषु सः ॥५३॥

उस प्रीतिद्वारा हरण किया जाता हुआ जो विशेष को नहीं देखता है वह आभास्वर देवों के बीच भास्वर (=उज्ज्वल) स्थान प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

यस्तु प्रीतिसुखात्तस्माद्विवेचयति मानसम् ।
तृतीयं लभते ध्यानं सुखं प्रीतिविवर्जितम् ॥ ५४ ॥

जो उस प्रीति-सुख (प्रीति के सुख) से अपने मन को अलग करता है वह, सुखमय, किंतु प्रीति रहित तृतीय ध्यान प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

यस्तु तस्मिन्सुखे मग्नो न विशेषाय यत्नवान् ।
शुभकृत्स्नैः स सामान्यं सुखं प्राप्नोति दैवतैः ॥ ५५ ॥

जो उस सुख में मग्न होकर विशेष के लिए यत्न नहीं करता है वह शुभकृत्स्न देवताओं के साथ सामान्य सुख प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

तादृशं सुखमासाद्य यो न रज्यत्युपेक्षकः ।
चतुर्थं ध्यानमाप्नोति सुखदुःखविवर्जितम् ॥ ५६ ॥

५१—"वञ्चित" के स्थान में "युक्त" बोधक कोई शब्द होगा ।

वैसा सुख पाकर जो अनुरक्त नहीं होता है, उदासीन रहता है, वह सुख-दुःख से रहित चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

तत्र केचिद्व्यवस्यन्ति मोक्ष इत्यभिमानिनः ।
सुखदुःखपरित्यागादव्यापाराच्च चेतसः ॥ ५७ ॥

उसमें सुख-दुःख का परित्याग होने से और चित्त का व्यापार नहीं होने से कुछ अभिमानी निश्चय करते हैं कि मोक्ष यही है ॥ ५७ ॥

अस्य ध्यानस्य तु फलं समं देवैर्बृहत्फलैः ।
कथयन्ति बृहत्कालं बृहत्प्रज्ञापरीक्षकाः ॥ ५८ ॥

ब्रह्म-ज्ञान के परीक्षक कहते हैं कि इस ध्यान का फल बृहत्फल देवों के साथ दीर्घ काल तक रहता है ॥ ५८ ॥

समाधेर्व्युत्थितस्तस्माद्दृष्ट्वा दोषांश्छरीरिणाम् ।
ज्ञानमारोहति प्राज्ञः शरीरविनिवृत्तये ॥ ५९ ॥

उस समाधि से उठकर, शरीर-धारियों के दोष देखकर बुद्धिमान् पुरुष शरीर-निवृत्ति के लिए ज्ञान (-मार्ग) पर आरूढ़ होता है ॥ ५९ ॥

ततस्तद्ध्यानमुत्सृज्य विशेषे कृतनिश्चयः ।
कामेभ्य इव स प्राज्ञो रूपादपि विरज्यते ॥ ६० ॥

तब उस ध्यान को छोड़कर, विशेष के लिए निश्चय कर बुद्धिमान् (पुरुष) काम की तरह रूप से भी विरक्त होता है ॥ ६० ॥

शरीरे खानि यान्यस्मिन्तान्यादौ परिकल्पयन् ।
घनेष्वपि ततो द्रव्येष्वाकाशमधिमुच्यते ॥ ६१ ॥

इस शरीर में जो शून्य स्थान हैं पहले उनकी कल्पना करता है, तब (इसके) ठोस पदार्थों को भी शून्य समझता है ॥ ६१ ॥

आकाशगतमात्मानं संक्षिप्य त्वपरो बुधः ।
तदेवानन्ततः पश्यन्विशेषमधिगच्छति ॥ ६२ ॥

दूसरा बुद्धिमान् पुरुष आकाश में स्थित अपने को (या आकाश में

व्याप्त आत्मा को) संक्षिप्त (=सङ्कुचित) कर, उसीको अनन्त की तरह देखता हुआ विशेष को प्राप्त करता है ॥ ६२ ॥

अध्यात्मकुशलस्त्वन्यो निवर्त्यात्मानमात्मना ।
किंचिन्नास्तीति संपश्यन्नाकिंचन्य इति स्मृतः ॥ ६३ ॥

अध्यात्म-कुशल दूसरा पुरुष आत्माद्वारा आत्मा को निवृत्त कर "कुछ भी नहीं है" ऐसा देखता हुआ आकिंचन्य (=अकिंचन ?) स्मरण किया गया है ॥ ६३ ॥

ततो मुञ्जादिषीकेव शकुनिः पञ्जरादिव ।
क्षेत्रज्ञो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ६४ ॥

तब मुञ्ज से (निकली) सींक के समान, पिंजड़े से (निकले) पक्षी के समान, देह से निकला हुआ क्षेत्रज्ञ मुक्त कहा जाता है ॥ ६४ ॥

एतत्तत्परमं ब्रह्म निर्लिङ्गं ध्रुवमक्षरम् ।
यन्मोक्ष इति तत्त्वज्ञाः कथयन्ति मनीषिणः ॥ ६५ ॥

यह परम ब्रह्म है, चिह्न रहित, ध्रुव और अविनाशी है, जिसे तत्त्वज्ञ मनीषी मोक्ष कहते हैं ॥ ६५ ॥

इत्युपायश्च मोक्षश्च मया संदर्शितस्तव ।
यदि ज्ञातं यदि रुचिर्यथावत्प्रतिपद्यताम् ॥ ६६ ॥

इस तरह उपाय व मोक्ष मैंने आपको बतला दिये; यदि इसे समझा और यदि रुचि हो, तो उचित रीति से इसे प्राप्त कीजिए ॥ ६६ ॥

जैगीषव्योऽथ जनको वृद्धश्चैव पराशरः ।
इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः ॥ ६७ ॥

जैगीषव्य, जनक, वृद्ध पराशर और दूसरे मोक्षवाले इस मार्ग से चलकर मुक्त हुए" ॥ ६७ ॥

इति तस्य स तद्वाक्यं गृहीत्वा तु विचार्य च ।
पूर्वहेतुबलप्राप्तः प्रत्युत्तरमुवाच ह ॥ ६८ ॥

उसका यह वचन सुनकर और विचार करके पूर्व जन्मों के

हेतु-बल (=तीन कुशल-मूलों की शक्ति) से युक्त कुमार ने उत्तर दियाः— ॥ ६८ ॥

श्रुतं ज्ञानमिदं सूक्ष्मं परतः परतः शिवम् ।
क्षेत्रज्ञस्यापरित्यागादवैम्येतदनैष्ठिकम् ॥ ६९ ॥

"यह सूक्ष्म ज्ञान सुना, जो बाद को कल्याण-कारी होता गया है। क्षेत्रज्ञ का परित्याग नहीं होने से इसे मैं नैष्ठिक नहीं समझता हूँ, ॥ ६९ ॥

विकारप्रकृतिभ्यो हि क्षेत्रज्ञं मुक्तमप्यहम् ।
मन्ये प्रसवधर्माणं बीजधर्माणमेव च ॥ ७० ॥

विकार व प्रकृतियों से मुक्त होने पर भी क्षेत्रज्ञ में उत्पत्ति करने का धर्म (=गुण, स्वभाव) और बीज होने का धर्म रहता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ७० ॥

विशुद्धो यद्यपि ह्यात्मा निर्मुक्त इति कल्प्यते ।
भूयः प्रत्ययसद्भावादमुक्तः स भविष्यति ॥ ७१ ॥

यद्यपि विशुद्ध आत्मा मुक्त समझा जाता है, प्रत्ययों (कारणों) के विद्यमान होने से वह फिर अमुक्त (=बद्ध) हो जायगा ॥ ७१ ॥

ऋतुभूम्यम्बुविरहाद्यथा बीजं न रोहति ।
रोहति प्रत्ययैस्तैस्तैस्तद्वत्सोऽपि मतो मम ॥ ७२ ॥

जैसे ऋतु भूमि व जल के अभाव से बीज अङ्कुरित नहीं होता है और उन उन प्रत्ययों के होने से अङ्कुरित होता है, वैसे ही मैं उसे भी मानता हूँ ॥ ७२ ॥

यत्कर्माज्ञानतृष्णानां त्यागान्मोक्षश्च कल्प्यते ।
अत्यन्तस्तत्परित्यागः सत्यात्मनि न विद्यते ॥ ७३ ॥

यह कि कर्म अज्ञान व तृष्णा के त्याग से मोक्ष होने की कल्पना की जाती है, सो आत्मा के रहने पर उनका अत्यन्त (=सम्पूर्ण) त्याग नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

हित्वा हित्वा त्रयमिदं विशेषस्तूपलभ्यते ।
आत्मनस्तु स्थितिर्यत्र तत्र सूक्ष्ममिदं त्रयम् ॥ ७४ ॥

इन तीनों को धीरे धीरे छोड़ने से विशेष की प्राप्ति होती है, किंतु जहाँ आत्मा की स्थिति है वहाँ ये तीनों सूक्ष्म रूप में भी रहते ही हैं ॥७४॥

सूक्ष्मत्वाच्चैव दोषाणामव्यापाराच्च चेतसः ।
दीर्घत्वादायुषश्चैव मोक्षस्तु परिकल्प्यते ॥ ७५ ॥

दोषों के सूक्ष्म होने से, चित्त का व्यापार नहीं होने से, और (उस अवस्था में) आयु लम्बी होने से मोक्ष की (केवल) कल्पना कर ली जाती है ॥ ७५ ॥

अहंकारपरित्यागो यश्चैष परिकल्प्यते ।
सत्यात्मनि परित्यागो नाहंकारस्य विद्यते ॥ ७६ ॥

और अहङ्कार-परित्याग की जो यह कल्पना की जाती है, सो आत्मा के रहने पर अहङ्कार का परित्याग नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

संख्यादिभिरमुक्तश्च निर्गुणो न भवत्ययम् ।
तस्मादसति नैर्गुण्ये नास्य मोक्षोऽभिधीयते ॥ ७७ ॥

और संख्या आदि से मुक्त नहीं होने पर वह (=आत्मा) निर्गुण नहीं होता है, इसलिए निर्गुण न होने पर इसे मोक्ष हुआ, ऐसा नहीं कह सकते ॥ ७७ ॥

गुणिनो हि गुणानां च व्यतिरेको न विद्यते ।
रूपोष्णाभ्यां विरहितो न ह्यग्निरुपलभ्यते ॥ ७८ ॥

गुणी व गुण जुदा जुदा नहीं रह सकते । रूप व गर्मी से रहित अग्नि नहीं पाई जाती ॥ ७८ ॥

प्राग्देहान्न भवेद्देही प्राग्गुणेभ्यस्तथा गुणी ।
तस्मादादौ विमुक्तः सन् शरीरी बध्यते पुनः ॥ ७९ ॥

देह से पूर्व देही नहीं, उसी तरह गुणों से पूर्व गुणी नहीं; इसलिए

शुरू में मुक्त होने पर भी शरीरी (=आत्मा) फिर (शरीर में) बद्ध होता है ॥ ७९ ॥

क्षेत्रज्ञो विशरीरश्च ज्ञो वा स्यादज्ञ एव वा ।
यदि ज्ञो ज्ञेयमस्यास्ति ज्ञेये सति न मुच्यते ॥ ८० ॥

और शरीर-रहित क्षेत्रज्ञ ज्ञ (=जाननेवाला) या अज्ञ है । यदि ज्ञ है, तो इसके लिए ज्ञेय (जानने को शेष) है और ज्ञेय होने पर यह मुक्त नहीं है ॥ ८० ॥

अथाज्ञ इति सिद्धो वः कल्पितेन किमात्मना ।
विनापि ह्यात्मनाज्ञानं प्रसिद्धं काष्ठकुड्यवत् ॥ ८१ ॥

यदि आपके अनुसार अज्ञ साबित होता है, तो आत्मा की कल्पना करने से क्या (प्रयोजन) ? आत्मा के बिना भी अज्ञान (का अस्तित्व) काठ व दीवार के समान सिद्ध है ॥ ८१ ॥

परतः परतस्त्यागो यस्मात्तु गुणवान् स्मृतः ।
तस्मात्सर्वपरित्यागान्मन्ये कृत्स्नां कृतार्थताम् ॥ ८२ ॥

क्योंकि एक एक करके त्याग करना गुणवान् स्मरण किया गया है. इसलिए सर्व-त्याग से पूर्ण कृतार्थता होती है, ऐसा मैं मानता हूँ ।" ॥८२॥

इति धर्ममराडस्य विदित्वा न तुतोष सः ।
अकृत्स्नमिति विज्ञाय ततः प्रतिजगाम ह ॥ ८३ ॥

अराड का यह धर्म जानकर वह संतुष्ट नहीं हुआ, यह (धर्म) अपूर्ण है ऐसा जानकर वहाँ से चला गया ॥ ८३ ॥

विशेषमथ शुश्रूषुरुद्रकस्याश्रमं ययौ ।
आत्मग्राहाच्च तस्यापि जगृहे न स दर्शनम् ॥ ८४ ॥

तब विशेष सुनने की इच्छा से वह उद्रक के आश्रम में गया और आत्मा (के सिद्धान्त) को मानने के कारण उसका भी दर्शन उसने ग्रहण नहीं किया ॥ ८४ ॥

संज्ञासंज्ञित्वयोर्दोषं ज्ञात्वा हि मुनिरुद्रकः ।
आकिंचन्यात्परं लेभेऽसंज्ञासंज्ञात्मिकां गतिम् ॥८५॥

संज्ञा (=चेतना) व असंज्ञा (=अचेतना) का दोष जानकर उद्रक मुनि ने अकिंचनता से परे संज्ञा-असंज्ञा-रहित मार्ग को प्राप्त किया ॥८५॥

यस्माच्चालम्बने सूक्ष्मे संज्ञासंज्ञे ततः परम् ।
नासंज्ञी नैव संज्ञीति तस्मात्तत्रगतस्पृहः ॥८६॥

क्योंकि सूक्ष्म संज्ञा-असंज्ञा भी आलम्बन (=मानसिक या शारीरिक कर्म का आधार) है, उस (सूक्ष्म संज्ञा-असंज्ञा) से परे न असंज्ञा-युक्त और न संज्ञा-युक्त अवस्था है, इसलिए वह (उद्रक) उस (अवस्था) का अभिलाषी हुआ ॥ ८६ ॥

यतश्च बुद्धिस्तत्रैव स्थितान्यत्राप्रचारिणी ।
सूक्ष्मापट्वी ततस्तत्र नासंज्ञित्वं न संज्ञिता ॥८७॥

और क्योंकि बुद्धि सूक्ष्म व अपटु (=कर्म-रहित) होकर वहीं रहती है, अन्यत्र नहीं जाती; इसलिए वहाँ न असंज्ञा है, न संज्ञा ॥ ८७ ॥

यस्माच्च तदपि प्राप्य पुनरावर्तते जगत् ।
बोधिसत्त्वः परं प्रेप्सुस्तस्मादुद्रकमत्यजत् ॥८८॥

और क्योंकि उसे भी प्राप्त कर आदमी फिर संसार में लौट आता है, इसलिए परम पद पाने के इच्छुक बोधिसत्त्व ने उद्रक का त्याग किया ॥ ८८ ॥

ततो हित्वाश्रमं तस्य श्रेयोऽर्थी कृतनिश्चयः ।
भेजे. गयस्य राजर्षेर्नगरीसंज्ञमाश्रमम् ॥८९॥

तब श्रेय पाने की इच्छा से निश्चय कर, उसका आश्रम छोड़, उसने राजर्षि गय के नगरी नामक आश्रम का सेवन किया ॥ ८९ ॥

अथ नैरञ्जनातीरे शुचौ शुचिपराक्रमः ।
चकार वासमेकान्तविहाराभिरतिर्मुनिः ॥९०॥

तब पवित्र पराक्रमवाले, एकान्त-विहार में आनन्द पानेवाले उस मुनि ने नैरञ्जना नदी के पवित्र तीर पर निवास किया ॥ ९० ॥

* * * तत्पूर्वं पञ्चेन्द्रियवशोद्धतान् ।
तपः * * व्रतिनो भिक्षून् पञ्च निरैक्षत ॥९१॥

अपने से पहले ही वहाँ आये हुए पाँच भिक्षुओं को देखा; वे तपस्वी और व्रती थे, पाँच इन्द्रियों को वश करने के अभिमानी थे ॥ ९१ ॥

ते चोपतस्थुर्दृष्ट्वात्र भिक्षवस्तं मुमुक्षवः ।
पुण्यार्जितधनारोग्यमिन्द्रियार्था इवेश्वरम् ॥९२॥

उसे वहाँ देखकर मोक्ष चाहनेवाले वे भिक्षु उसकी सेवा में उपस्थित हुए, जैसे इन्द्रिय विषय उस ऐश्वर्यशाली की सेवा में उपस्थित होते हैं जिसने अपने पुण्यों से धन व आरोग्य अर्जित किये हों ॥ ९२ ॥

संपूज्यमानस्तैः प्रह्वैर्विनयादनुवर्तिभिः ।
तद्वशस्थायिभिः शिष्यैर्लोलैर्मन इवेन्द्रियैः ॥९३॥

अपने वश में रहनेवाले उन शिष्योंद्वारा, जो विनयी होने के कारण नम्र व आज्ञा-कारी थे, वह वैसे ही पूजित हुआ, जैसे चञ्चल इन्द्रियों से चित्त पूजित (=सेवित) होता है ॥ ९३ ॥

मृत्युजन्मान्तकरणे स्यादुपायोऽयमित्यथ ।
दुष्कराणि समारेभे तपांस्यनशनेन सः ॥९४॥

तब उसने उपवास-द्वारा दुष्कर तप शुरू किये, यह सोचते हुए कि मृत्यु व जन्म का अन्त करने में यह उपाय होगा ॥ ९४ ॥

उपवासविधीन्नैकान कुर्वन्नरदुराचरान् ।
वर्षाणि षट् शमप्रेप्सुरकरोत्कार्श्यमात्मनः ॥९५॥

भाँति भाँति के उपवास, जो मनुष्य के लिए दुष्कर हैं, छः वर्षों तक करते हुए, शम प्राप्त करने की इच्छा से उसने अपने को कृश बनाया ॥ ९५ ॥

अन्नकालेषु चैकैकैः स कोलतिलतण्डुलैः ।
अपारपारसंसारपारं प्रेप्सुरपारयत् ॥९६॥

अपार-पार संसार का पार पाने की इच्छा से भोजन के समय एक एक बेर तिल व चावल से उसने पारण किया ॥ ९६ ॥

देहादपचयस्तेन तपसा तस्य यः कृतः ।
स एवोपचयो भूयस्तेजसास्य कृतोऽभवत् ॥९७॥

उस तपद्वारा उसके शरीर से जितना ही क्षय हुआ, फिर तेजद्वारा उसकी उतनी ही वृद्धि हुई ॥ ९७ ॥

कृशोऽप्यकृशकीर्तिश्रीर्ह्लादं चक्रेऽन्यचक्षुषाम् ।
कुमुदानामिव शरच्छुक्लपक्षादिचन्द्रमाः ॥९८॥

(शरीर से) क्षीण होने पर भी उसकी श्री और कीर्ति क्षीण नहीं हुई और दूसरों की आँखों को उसने वैसे ही आनन्दित किया, जैसे शरद् ऋतु के शुक्ल-पक्ष के आरम्भ का चन्द्रमा कुमुदों को आनन्दित करता है ॥ ९८ ॥

त्वगस्थिशेषो निःशेषैर्मेदःपिशितशोणितैः ।
क्षीणोऽप्यक्षीणगाम्भीर्यः समुद्र इव स व्यभात् ॥९९॥

उसकी त्वचा व हड्डियाँ शेष रह गईं, मेद मांस व शोणित निःशेष हो गये; इस तरह क्षीण होने पर भी वह अक्षीण-गाम्भीर्य (= जिसकी गम्भीरता क्षीण नहीं हुई) समुद्र के समान शोभित हुआ ॥ ९९ ॥

अथ कष्टतपःस्पष्टव्यर्थक्लिष्टतनुर्मुनिः ।
भवभीरुरिमां चक्रे बुद्धिं बुद्धत्वकाङ्क्षया ॥१००॥

तब कठोर तप-द्वारा, स्पष्ट ही, शरीर को व्यर्थ क्लेश देकर, जन्म से डरनेवाले मुनि ने बुद्धत्व (पाने) की आकाङ्क्षा से यह विचार किया:—॥ १०० ॥

नायं धर्मो विरागाय न बोधाय न मुक्तये ।
जम्बुमूले मया प्राप्तो यस्तदा स विधिर्ध्रुवः ॥१०१॥

"इस धर्म से न विराग होगा, न बोध, न मुक्ति। उस समय जम्बु-वृक्ष के मूल में मैंने जो विधि प्राप्त की वही ध्रुव है ॥ १०१ ॥

न चासौ दुर्बलेनाप्तुं शक्यमित्यागतादरः ।
शरीरबलवृद्ध्यर्थमिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ॥१०२॥

दुर्बल उसे नहीं प्राप्त कर सकता", (शरीर के प्रति) ऐसा आदर होने पर शरीर-बल की वृद्धि के लिए उसने फिर यह सोचाः—॥ १०२ ॥

क्षुत्पिपासाश्रमक्लान्तः श्रमादस्वस्थमानसः ।
प्राप्नुयान्मनसावाप्यं फलं कथमनिर्वृतः ॥१०३॥

"जो भूख प्यास व थकावट से ग्रस्त है, थकावट से अस्वस्थचित्त है, अ-सुखी है, वह मन से प्राप्त होनेवाला फल कैसे पावेगा ? ॥ १०३ ॥

निर्वृतिः प्राप्यते सम्यक् सततेन्द्रियतर्पणात् ।
संतर्पितेन्द्रियतया मनःस्वास्थ्यमवाप्यते ॥१०४॥

इन्द्रियों को निरन्तर तृप्त करने से सुख ठीक ठीक प्राप्त होता है; इन्द्रियों को अच्छी तरह तृप्त करने से मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥

स्वस्थप्रसन्नमनसः समाधिरुपपद्यते ।
समाधियुक्तचित्तस्य ध्यानयोगः प्रवर्तते ॥१०५॥

जिसका मन स्वस्थ व प्रसन्न है उसे समाधि सिद्ध होती है, जिसका चित्त समाधि से युक्त है उसे ध्यान-योग होता है ॥ १०५ ॥

ध्यानप्रवर्तनाद्धर्माः प्राप्यन्ते यैरवाप्यते ।
दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम् ॥१०६॥

ध्यान होने से धर्म प्राप्त होते हैं, जिनसे वह परम पद प्राप्त होता है जो दुर्लभ शान्त अजर और अमर है ॥ १०६ ॥

तस्मादाहारमूलोऽयमुपाय इतिनिश्चयः ।
आहारकरणे धीरः कृत्वामितमतिर्मतिम् ॥१०७॥

इसलिए, यह उपाय आहार-मूलक है", ऐसा निश्चय कर अपरिमित बुद्धिवाले उस धीर ने भोजन करने का विचार किया ॥ १०७ ॥

स्नातो नैरञ्जनातीरादुत्ततार शनैः कृशः ।
भक्त्यावनतशाखाग्रैर्दत्तहस्तस्तटद्रुमैः ॥१०८॥

स्नान कर, वह कृश-तनु नैरञ्जना नदी के तीर से धीरे धीरे ऊपर चढ़ा; उस समय शाखाओं के अग्रभागों को भक्तिपूर्वक झुकाकर तट-वर्ती वृक्षों ने हाथ (=सहारा) दिया ॥ १०८ ॥

अथ गोपाधिपसुता दैवतैरभिचोदिता ।
उद्भूतहृदयानन्दा तत्र नन्दबलागमत् ॥१०९॥

तब देवताओं से प्रेरित होकर, गोप-राज की पुत्री नन्दबला आनन्दित हृदय से वहाँ गई ॥ १०९ ॥

सितशङ्खोज्ज्वलभुजा नीलकम्बलवासिनी ।
सफेनमालानीलाम्बुर्यमुनेव सरिद्वरा ॥११०॥

उसकी भुजाएँ श्वेत शङ्खों से उज्ज्वल थीं, वह नीला वस्त्र पहने हुए थी, जैसे फेन-मालाओं से युक्त नील जलवाली सरिता-श्रेष्ठ यमुना (उपस्थित हुई) हो ॥ ११० ॥

सा श्रद्धावर्धितप्रीतिर्विकसल्लोचनोत्पला ।
शिरसा प्रणिपत्यैनं ग्राहयामास पायसम् ॥१११॥

श्रद्धा से उसकी प्रीति बढ़ी, नेत्ररूप उत्पल विकसित हुए। शिर से प्रणाम कर उस (मुनि) के द्वारा उसने पायस ग्रहण कराया ॥ १११ ॥

कृत्वा तदुपभोगेन प्राप्तजन्मफलां स ताम् ।
बोधिप्राप्तौ समर्थोऽभूत्संतर्पितषडिन्द्रियः ॥११२॥

उस (पायस) का उपभोग कर उसने उस (कन्या) का जन्म सफल किया और छः इन्द्रियों को अच्छी तरह तृप्त कर बोधि-प्राप्ति में समर्थ हुआ ॥ ११२ ॥

पर्याप्ताप्यानमूर्तिश्च सार्धं स्वयशसा मुनिः ।
कान्तिधैर्ये बभारैकः शशाङ्कार्णवयोर्द्वयोः ॥११३॥

अपने यश के साथ वह मुनि शरीर से पर्याप्त वृद्धि को प्राप्त हुआ । उस एक ही ने चन्द्रमा और सागर दोनों की (क्रमशः) कान्ति व धैर्य धारण किये ॥ ११३ ॥

आवृत्त इति विज्ञाय तं जहुः पञ्च भिक्षवः ।
मनीषिणमिवात्मानं निर्मुक्तं पञ्च धातवः ॥११४॥

वह (धर्म से) निवृत्त हो गया, ऐसा जानकर पाँचो भिक्षुओं ने उसे छोड़ दिया, जैसे मुक्त हुए मनीषी आत्मा को पाँचो धातु छोड़ देते हैं ॥ ११४ ॥

व्यवसायद्वितीयोऽथ शाद्वलास्तीर्णभूतलम् ।
सोऽश्वत्थमूलं प्रययौ बोधाय कृतनिश्चयः ॥११५॥

तब बुद्धत्व के लिए निश्चय कर, (अपने एकमात्र साथी) निश्चय के साथ वह पीपल वृक्ष के नीचे गया, जहाँ की भूमि हरे तृणों से ढकी थी ॥ ११५ ॥

ततस्तदानीं गजराजविक्रमः पदस्वनेनानुपमेन बोधितः ।
महामुनेरागतबोधिनिश्चयो जगाद कालो भुजगोत्तमः स्तुतिम् ॥११६॥

तब उस समय काल नामक उत्तम सर्प, जो गजराज के समान पराक्रमी था, अनुपम पद-ध्वनि-द्वारा जगाया गया; बोधि (-प्राप्ति) के लिए निश्चय किया है, ऐसा जानकर उसने महामुनि की स्तुति की:—॥ ११६ ॥

यथा मुने त्वच्चरणावपीडिता मुहुर्मुहुर्निष्टनतीव मेदिनी ।
यथा च ते राजति सूर्यवत्प्रभा ध्रुवं त्वमिष्टं फलमद्य भोक्ष्यसे ॥११७॥

"हे मुनि, आपके चरणों से पीड़ित होकर जिस प्रकार पृथिवी मानो बार बार गरज रही है और जिस प्रकार आपकी प्रभा सूर्य के समान चमक रही है, अवश्य ही आज आप इच्छित फल भोगेंगे ॥ ११७ ॥

यथा भ्रमन्त्यो दिवि चाषपङ्क्तयः प्रदक्षिणं त्वां कमलाक्ष कुर्वते ।
यथा च सौम्या दिवि वान्ति वायवस्त्वमद्य बुद्धो नियतं भविष्यसि ११८

हे कमल-लोचन, जिस प्रकार आकाश में मँड़राते हुए चाष (=नीलकण्ठ) पक्षियों के झुंड आपकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं और जिस प्रकार आकाश में सुन्दर हवा बह रही है, अवश्य ही आज आप बुद्ध होंगे" ॥ ११८ ॥

ततो भुजङ्गप्रवरेण संस्तुतस्तृणान्युपादाय शुचीनि लावकात् ।
कृतप्रतिज्ञो निषसाद बोधये महातरोर्मूलमुपाश्रितः शुचेः ॥११९॥

तब सर्प-श्रेष्ठ द्वारा स्तुति की जाने पर, वह हँसुए से पवित्र तृण ले आया और बोधि (-प्राप्ति) के लिए प्रतिज्ञा कर, पवित्र महातरु के नीचे आश्रय लेकर बैठ गया ॥ ११९ ॥

ततः स पर्यङ्कमकम्प्यमुत्तमं बबन्ध सुप्तोरगभोगपिण्डितम् ।
भिनद्मि तावद्भुवि नैतदासनं न यामि यावत्कृतकृत्यतामिति ॥१२०॥

तब उसने उत्तम अविचल पर्यङ्क आसन बाँधा, जो सोये हुए साँप के शरीर के समान पुञ्जीभूत था। (और कहा)—"तब तक पृथिवी पर इस आसन को नहीं तोड़ूँगा, जब तक कि सफलता नहीं प्राप्त करूँगा" ॥ १२० ॥

ततो ययुर्मुदमतुलां दिवौकसो ववाशिरे न मृगगणाः न पक्षिणः ।
न सस्वनुर्वनतरवोऽनिलाहताः कृतासने भगवति निश्चितात्मनि १२१

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽराडदर्शनो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

जब दृढ़ निश्चय कर के भगवान् ने आसन ग्रहण किया, तब देवों ने अतुल आनन्द पाया, पशु-पक्षी बोले नहीं, और हवा से आहत होने पर भी जंगल के पेड़ों से शब्द नहीं हुआ ॥ १२१ ॥

बुद्धचरित महाकाव्य का "अराड-दर्शन" नामक
बारहवाँ सर्ग समाप्त ।

तेरहवाँ सर्ग

मार की पराजय

तस्मिन्विमोक्षाय कृतप्रतिज्ञे राजर्षिवंशप्रभवे महर्षौ ।
तत्रोपविष्टे प्रजहर्ष लोकस्तत्रास सद्धर्मरिपुस्तु मारः ॥ १ ॥

मोक्ष के लिए प्रतिज्ञा कर जब राजर्षि-वंश में उत्पन्न वह महर्षि वहाँ बैठ गया, तब संसार को हर्ष हुआ, किंतु सद्धर्म-शत्रु मार को भय हुआ ॥ १ ॥

यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुष्पशरं तथैव ।
कामप्रचाराधिपतिं तमेव मोक्षद्विषं मारमुदाहरन्ति ॥ २ ॥

संसार में जिसे कामदेव, चित्रायुध तथा पुष्पशर कहते हैं उसी मोक्ष-शत्रु को, जो काम-संचार का अधिपति है, मार कहते हैं ॥ २ ॥

तस्यात्मजा विभ्रमहर्षदर्पास्तिस्रोऽरतिप्रीतितृषश्च कन्याः ।
पप्रच्छुरेनं मनसो विकारं स तांश्च ताश्चैव वचोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥

विभ्रम, हर्ष व दर्प नामक उसके पुत्रों ने तथा अरति, प्रीति व तृषा (=प्यास) नामक उसकी तीन कन्याओं ने उससे मानसिक विकार (का कारण) पूछा । उसने उन पुत्रों व कन्याओं से यह वचन कहाः—॥ ३ ॥

असौ मुनिर्निश्चयवर्म बिभ्रत्सत्त्वायुधं बुद्धिशरं विकृष्य ।
जिगीषुरास्ते विषयान्मदीयान्तस्मादयं मे मनसो विषादः ॥ ४ ॥

"निश्चयरूप कवच धारण कर, बुद्धिरूप तीरवाला सत्त्वरूप अस्त्र (=धनुष) खींचकर, वह मुनि मेरा राज्य जीतना चाहता है; इसलिए मेरा यह मानसिक विषाद है ॥ ४ ॥

यदि ह्यसौ मामभिभूय याति लोकाय चाख्यात्यपवर्गमार्गम् ।
शून्यस्ततोऽयं विषयो ममाद्य वृत्ताच्च्युतस्येव विदेहभर्तुः ॥ ५ ॥

यदि वह मुझे जीत जाता है और जगत् को अपवर्ग का मार्ग बताता है, तो मेरा यह राज्य आज उसी प्रकार सूना हो जायगा जिस-प्रकार सदाचार से च्युत होने पर विदेह-राज (=कराल जनक या निमि विदेह) का राज्य (सूना हो गया था) ॥ ५ ॥

तद्यावदेवैष न लब्धचक्षुर्मद्गोचरे तिष्ठति यावदेव ।
यास्यामि तावद्व्रतमस्य भेत्तुं सेतुं नदीवेग इवातिवृद्धः ॥ ६ ॥

इसलिए जब तक यह ज्ञान-चक्षु नहीं प्राप्त करता है, जबतक मेरे ही क्षेत्र में रहता है, तब तक इसका व्रत भङ्ग करने के लिए जाऊँगा जैसे नदी का अत्यन्त बढ़ा हुआ वेग पुल को तोड़ता है ॥ ६ ॥

ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरान् जगन्मोहकरांश्च पञ्च ।
सोऽश्वत्थमूलं ससुतोऽभ्यगच्छदस्वास्थ्यकारी मनसः प्रजानाम् ॥७॥

तब फूलों का धनुष तथा जगत् को मूढ़ करनेवाले पाँच तीर लेकर, प्रजाओं के मन को अस्वस्थ करनेवाला वह मार अपनी संतानों के साथ अश्वत्थ वृक्ष के नीचे गया ॥ ७ ॥

अथ प्रशान्तं मुनिमासनस्थं पारं तितीर्षुं भवसागरस्य ।
विषज्य सव्यं करमायुधाग्रे क्रीडन् शरेणेदमुवाच मारः ॥ ८ ॥

तब अस्त्र के अग्रभाग पर बाँया हाथ रखकर, तीर से खेलते हुए मार ने आसन पर स्थित प्रशान्त मुनि से, जो भव-सागर के पारतक तैरने को इच्छुक था, यह कहाः— ॥ ८ ॥

उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय मृत्युभीत चर स्वधर्मं त्यज मोक्षधर्मम् ।
बाणैश्च यज्ञैश्च विनीय लोकं लोकात्पदं प्राप्नुहि वासवस्य ॥ ९ ॥

"ऐ मौत से डरनेवाले क्षत्रिय, उठो, स्वधर्म का आचरण करो, मोक्ष-धर्म का त्याग करो। बाणों व यज्ञों से संसार को जीतो और संसार से इन्द्र का पद प्राप्त करो ॥ ९ ॥

पन्था हि निर्यातुमयं यशस्यो यो वाहितः पूर्वतमैर्नरेन्द्रैः ।
जातस्य राजर्षिकुले विशाले भैक्षाकमश्लाघ्यमिदं प्रपत्तुम् ॥१०॥

(संसार से) निकलने का मार्ग यही है, यश देनेवाला मार्ग है, जिसपर पूर्व के राजा लोग चले थे। जो विशाल राजर्षि-कुल में उत्पन्न हुआ है, उसके लिए इस भिक्षा-वृत्ति का अवलम्बन करना श्लाघ्य नहीं ॥ १० ॥

अथाद्य नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन् भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिज्ञाम् ।
मयोद्यतो ह्येष शरः स एव यः शूर्पके मीनरिपौ विमुक्तः ॥११॥

या यदि, हे स्थिरात्मन्, आज नहीं उठते हो, तो स्थिर हो जाओ, प्रतिज्ञा मत छोड़ो। मैंने यह वही तीर उठाया है, जो मछलियों के शत्रु (=मछुए) शूर्पक पर छोड़ा गया था ॥ ११ ॥

स्पृष्टः स चानेन कथंचिदैडः सोमस्य नप्ताप्यभवद्विचित्तः ।
स चाभवच्छन्तनुरस्वतन्त्रः क्षीणे युगे किं बत दुर्बलोऽन्यः ॥१२॥

इसके स्पर्शमात्र से चन्द्रमा के नाती ऐड का भी चित्त विचलित हो गया और वह शन्तनु अपने वश में नहीं रहा, फिर (इस) क्षीण युग में दूसरे दुर्बल का क्या कहना ॥ १२ ॥

तत्क्षिप्रमुत्तिष्ठ लभस्व संज्ञां बाणो ह्ययं तिष्ठति लेलिहानः ।
प्रियाविधेयेषु रतिप्रियेषु यं चक्रवाकेष्विव नोत्सृजामि ॥१३॥

इसलिए शीघ्र उठो, होश सँभालो; क्योंकि बार बार विनाश करने वाला यह बाण तैयार है। इसे मैं उनपर नहीं छोड़ता जो चक्रवाकों के समान अपनी प्रियाओं के अनुकूल हैं और रति-प्रिय हैं ॥ १३ ॥

इत्येवमुक्तोऽपि यदा निरास्थो नैवासनं शाक्यमुनिर्विभेद ।
शरं ततोऽस्मै विससर्ज मारः कन्याश्च कृत्वा पुरतः सुतांश्च ॥१४॥

इस प्रकार कहे जाने पर भी जब शाक्य-मुनि ने न ध्यान दिया और

११—शूर्पक के लिए देखिए—सौ० आठ ४४, और दस ५१ ।

न आसन तोड़ा, तब अपनी कन्याओं और पुत्रों को आगे कर मार ने उसके ऊपर तीर छोड़ा ॥ १४ ॥

तस्मिंस्तु बाणेऽपि स विप्रमुक्ते चकार नास्थां न धृतेश्चचाल ।
दृष्ट्वा तथैनं विषसाद मारश्चिन्तापरीतश्च शनैर्जगाद ॥१५॥

किंतु उस बाण के छोड़े जाने पर भी उसने न ध्यान दिया और न वह धैर्य से ही विचलित हुआ। उस प्रकार उसे देखकर, मार को विषाद हुआ और चिन्तित होकर उसने धीरे धीरे कहा:—॥ १५ ॥

शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव ।
न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः ॥१६॥

"जिससे विद्ध होकर महादेव भी शैलेन्द्र-पुत्री (पार्वती) के प्रति चलायमान हुआ, उसी बाण की यह चिन्ता नहीं कर रहा है। क्या इसे चित्त ही नहीं है या यह वह तीर ही नहीं है ? ॥ १६ ॥

तस्मादयं नार्हति पुष्पबाणं न हर्षणं नापि रतेर्नियोगम् ।
अर्हत्ययं भूतगणैरसौम्यैः संत्रासनातर्जनताडनानि ॥१७॥

इसलिए यह (मुनि) पुष्प-बाण, प्रसन्न करने, या रति-प्रयोग के योग्य नहीं। यह असौम्य भूतोंद्वारा डराये धमकाये और पीटे जाने योग्य है।" ॥ १७ ॥

सस्मार मारश्च ततः स्वसैन्यं विघ्नं शमे शाक्यमुनेश्चिकीर्षन् ।
नानाश्रयाश्चानुचराः परीयुः शलद्रुमप्रासगदासिहस्ताः ॥१८॥

तब शाक्य-मुनि की शान्ति में विघ्न करने की इच्छा से मार ने अपनी सेना का स्मरण किया और विविध रूपों में अनुचरगण उसके चारों ओर आ गये; उनके हाथों में त्रिशूल, वृक्ष, भाले, गदाएँ और तलवारें थीं ॥ १८ ॥

वराहमीनाश्वखरोष्ट्रवक्त्रा व्याघ्रर्क्षसिंहद्विरदाननाश्च ।
एकेक्षणा नैकमुखास्त्रिशीर्षा लम्बोदराश्चैव पृषोदराश्च ॥१९॥

सूअर मछली घोड़े गधे ऊँट बाघ रीछ सिंह और हाथी के-से उनके

मुख थे। वे एक आँखवाले थे, उनके अनेक मुख थे, तीन तीन शिर थे, उदर लम्बे थे, पेटों पर धब्बे थे ॥ १९ ॥

अजानुसक्था घटजानवश्च दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च ।
करङ्कवक्त्रा बहुमूर्तयश्च भग्नार्धवक्त्राश्च महामुखाश्च ॥२०॥

उनके घुटने व जाँघें नहीं थीं, या घड़ों के समान घुटने थे, दाँत ही उनके अस्त्र थे, नख ही हथियार थे, मस्तक-खप्पर ही मुँह थे, अनेक शरीर थे, मुखों के आधे भाग भग्न थे या बड़े बड़े मुख थे ॥ २० ॥

भस्मारुणा लोहितबिन्दुचित्राः खट्वाङ्गहस्ता हरिधूम्रकेशाः ।
लम्बस्रजो वारणलम्बकर्णाश्चर्माम्बराश्चैव निरम्बराश्च ॥२१॥

वे भस्म से रंगे थे, लाल बिन्दुओं से रंग-बिरंगे थे, उनके हाथों में खट्वाङ्ग (=खाट के अङ्ग या नर-पञ्जर) थे, केश वानर के समान धूम्र वर्ण के थे, लम्बी (मुण्ड-) मालाएँ थीं, हाथी के समान लम्बे कान थे, वे चमड़े के कपड़े पहने हुए थे या वस्त्र-हीन थे ॥ २१ ॥

श्वेतार्धवक्त्रा हरितार्धकायास्ताम्राश्च धूम्रा हरयोऽसिताश्च ।
व्यालोत्तरासङ्गभुजास्तथैव प्रघुष्टघण्टाकुलमेखलाश्च ॥२२॥

उनके आधे मुँह सफेद थे, आधे शरीर हरे थे, वे ताम्र-वर्ण व धूम्र-वर्ण थे, पीले व काले थे, उनकी भुजाएँ साँपों से ढकी थीं, बजती घण्टियों से उनके कटि-सूत्र आकुल थे ॥ २२ ॥

तालप्रमाणाश्च गृहीतशूला दंष्ट्राकरालाश्च शिशुप्रमाणाः ।
उरभ्रवक्त्राश्च विहंगमाक्षा मार्जारवक्त्राश्च मनुष्यकायाः ॥२३॥

वे ताल-वृक्ष के समान लम्बे थे और शूल पकड़े हुए थे, बच्चों के आकार के थे और दाढ़ों से भयानक लगते थे। भेड़ों के-से उनके मुँह थे और चिड़ियों की-सी आँखें थीं, बिलाड़ों के-से मुँह थे और मनुष्य के शरीर थे ॥ २३ ॥

प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धमुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च ।
प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च ॥२४॥

उनके बाल बिखरे हुए थे, वे शिखा-धारी थे, अध-मुंडे थे, लाल वस्त्र पहने थे, उनकी पगड़ियाँ उलटी-पुलटी थीं। उनके मुख उत्साहित थे, मुखों पर भृकुटी थी, वे तेज हरण करनेवाले थे और मन हरण करनेवाले थे ॥ २४ ॥

केचिद्व्रजन्तो भृशमाववल्गुरन्योऽन्यमापुप्लुविरे तथान्ये ।
चिक्रीडुराकाशगताश्च केचित्केचिच्च चेरुस्तरुमस्तकेषु ॥२५॥

कोई कोई जाते हुए जोरों से कूदते थे और दूसरे एक-दूसरे पर उछलते थे। कोई आकाश में जाकर खेलते थे और कोई वृक्ष-शिखरों पर चलते थे ॥ २५ ॥

ननर्त कश्चिद्भ्रमयंस्त्रिशूलं कश्चिद्विपुस्फूर्ज गदां विकर्षन् ।
हर्षेण कश्चिद्वृषवन्ननर्द कश्चित्प्रजज्वाल तनूरुहेभ्यः ॥२६॥

कोई त्रिशूल घुमाता हुआ नाचता था, कोई गदा खींचता हुआ गरजता था। कोई हर्ष से साँड़ के समान गरजा और किसीके रोम से ज्वाला निकली ॥ २६ ॥

एवंविधा भूतगणाः समन्तात्तद्बोधिमूलं परिवार्य तस्थुः ।
जिघृक्षवश्चैव जिघांसवश्च भर्तुर्नियोगं परिपालयन्तः ॥२७॥

इस प्रकार के भूत उस बोधि-वृक्ष के मूल को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये। वे पकड़ना चाहते थे और हत्या करना चाहते थे, स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ २७ ॥

तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्षभस्यैव च युद्धकालम् ।
न द्यौश्चकाशे पृथिवी चकम्पे प्रजज्वलुश्चैव दिशः सशब्दाः ॥२८॥

रात्रि के आरम्भ में मार व शाक्य-ऋषभ का युद्ध-काल देखकर, आकाश चमका नहीं, पृथ्वी काँपी, एवं शब्द करती हुई दिशाएँ प्रज्वलित हुईं ॥ २८ ॥

विष्वग्ववौ वायुरुदीर्णवेगस्तारा न रेजुर्न बभौ शशाङ्कः ।
तमश्च भूयो विततान रात्रिः सर्वे च संचुक्षुभिरे समुद्राः ॥२९॥

खुले वेग से हवा चारों ओर बही, न तारे शोभित हुए और न चन्द्रमा। रात्रि ने और भी अन्धकार फैलाया और सब समुद्रों में क्षोभ हुआ ॥ २९ ॥

महीभृतो धर्मपराश्च नागा महामुनेर्विघ्नममृष्यमाणाः ।
मारं प्रति क्रोधविवृत्तनेत्रा निःशश्वसुश्चैव जजृम्भिरे च ॥३०॥

और पृथ्वी को धारण करनेवाले नागों ने महामुनि का विघ्न नहीं सहा; मार के प्रति क्रोध से आँखें घुमाकर उन्होंने फुफकार किया और जँभाई ली ॥ ३० ॥

शुद्धाधिवासा विबुधर्षयस्तु सद्धर्मसिद्ध्यर्थमभिप्रवृत्ताः ।
मारेऽनुकम्पां मनसा प्रचक्रुर्विरागभावात्तु न रोषमीयुः ॥३१॥

किंतु शुद्धाधिवास देवों ने, जो सद्धर्म की सिद्धि में लगे हुए थे, मार के ऊपर मन में अनुकम्पा की, राग-रहित होने के कारण उन्होंने क्रोध नहीं किया ॥ ३१ ॥

तद्बोधिमूलं समवेक्ष्य कीर्णं हिंसात्मना मारबलेन तेन ।
धर्मात्मभिर्लोकविमोक्षकामैर्बभूव हाहाकृतमन्तरीक्षे ॥३२॥

उस हिंसात्मक मार-बल से उस बोधि-वृक्ष के मूल को भरा हुआ देख कर, संसार का मोक्ष चाहनेवाले धर्मात्माओं ने अन्तरिक्ष में हाहाकार किया ॥ ३२ ॥

उपप्लवं धर्मविधेस्तु तस्य दृष्ट्वा स्थितं मारबलं महर्षिः ।
न चुक्षुभे नापि ययौ विकारं मध्ये गवां सिंह इवोपविष्टः ॥३३॥

वहाँ पर स्थित मार-बल उस धर्म-विधि में उपद्रव है, यह देखकर, गौओं के बीच बैठे हुए सिंह के समान, महर्षि को न क्षोभ हुआ, न विकार (=भय) ॥ ३३ ॥

मारस्ततो भूतचमूमुदीर्णामाज्ञापयामास भयाय तस्य ।
स्वैः स्वैः प्रभावैरथ सास्य सेना तद्धैर्यभेदाय मतिं चकार ॥३४॥

तब खुली हुई भूत-सेना को मार ने उसे डराने की आज्ञा दी और

उसकी उस सेना ने अपने अपने प्रभावों से उसका धैर्य भङ्ग करने का निश्चय किया ॥ ३४ ॥

केचिच्चलन्नैकविलम्बिजिह्वास्तीक्ष्णाग्रदंष्ट्रा हरिमण्डलाक्षाः ।
विदारितास्याः स्थिरशङ्कुकर्णाः संत्रासयन्तः किल नाम तस्थुः ॥३५॥

कुछ (भूत) उसे डराने की कोशिश करते हुए खड़े रहे; उनकी लटकती हुई अनेक जीभें हिल रही थीं, दाँतों के अग्रभाग तेज थे, आँखें सूर्य-मण्डल के समान थीं, मुँह खुले हुए थे और कान बर्छी के समान कठोर थे ॥ ३५ ॥

तेभ्यः स्थितेभ्यः स तथाविधेभ्यः रूपेण भावेन च दारुणेभ्यः ।
न विव्यथे नोद्विविजे महर्षिः क्रीडत्सुबालेभ्य इवोद्धतेभ्यः ॥३६॥

खड़े हुए वैसे उन (भूतों) से, जो रूप व भाव से दारुण थे, महर्षि को न व्यथा हुई न भय, जैसे खेल में उत्तेजित बालकों से (न व्यथा होती है न भय) ॥ ३६ ॥

कश्चित्ततो रोषविवृत्तदृष्टिस्तस्मै गदामुद्यमयांचकार ।
नस्तम्भ बाहुः सगदस्ततोऽस्य पुरंदरस्येव पुरा सवज्रः ॥३७॥

तब किसीने रोष से आँखें घुमाकर उसके ऊपर गदा उठाई; तब गदा-सहित उसकी बाहु वैसे ही स्तम्भित हो गई, जैसे प्राचीन समय में इन्द्र की वज्र-युक्त बाहु ॥ ३७ ॥

केचित्समुद्यम्य शिलास्तरूंश्च विषेहिरे नैव मुनौ विमोक्तुम् ।
पेतुः सवृक्षाः सशिलास्तथैव वज्रावभग्ना इव विन्ध्यपादाः ॥३८॥

कतिपयों ने शिलाएँ व वृक्ष उठाये, किंतु मुनि पर छोड़ नहीं सके। वृक्षों व शिलाओं के साथ वे वैसे ही गिरे, जैसे वज्र से भग्न हुए विन्ध्याचल के पाद ॥ ३८ ॥

कैश्चित्समुत्पत्य नभो विमुक्ताः शिलाश्च वृक्षाश्च परश्वधाश्च ।
तस्थुर्नभस्येव न चावपेतुः संध्याभ्रपादा इव नैकवर्णाः ॥३९॥

कतिपयों ने आकाश में उड़कर जो शिलाएँ वृक्ष व कुठार छोड़े, वे

गिरे नहीं आकाश में ही रहे, जैसे संध्याकालीन बादलों के रंग-बिरंगे टुकड़े हों ॥ ३९ ॥

चिक्षेप तस्योपरि दीप्तमन्यः कडङ्गरं पर्वतशृङ्गमात्रम् ।
यन्मुक्तमात्रं गगनस्थमेव तस्यानुभावाच्छतधा पफाल ॥४०॥

दूसरे ने उसके ऊपर पहाड़ की चोटी के बराबर जलता कुंदा फेंका; जैसे ही यह फेंका गया कि उस (मुनि) के प्रभाव से आकाश में ही इसके सौ टुकड़े हो गये ॥ ४० ॥

कश्चिज्ज्वलन्नर्क इवोदितः खादङ्गारवर्षं महदुत्ससर्ज ।
चूर्णानि चामीकरकन्दराणां कल्पात्यये मेरुरिव प्रदीप्तः ॥४१॥

उदय होते सूर्य के समान जलते हूए किसीने आकाश से अङ्गारों की झड़ी लगा दी, जैसे कल्प के अन्त में जलता हुआ मेरु पर्वत सुवर्ण-कन्दराओं के चूर्ण बरसा रहा हो ॥ ४१ ॥

तद्बोधिमूले प्रविकीर्यमाणमङ्गारवर्षं तु सविस्फुलिङ्गम् ।
मैत्रीविहारादृषिसत्तमस्य बभूव रक्तोत्पलपत्रवर्षः ॥४२॥

उस बोधि-वृक्ष के मूल में स्फुलिङ्गों के साथ जो अङ्गार-वृष्टि की जा रही थी, वह ऋषि-श्रेष्ठ के मैत्री में विहार करने के कारण (=सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखने के कारण) लाल कमलों के पत्तों की वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥ ४२ ॥

शरीरचित्तव्यसनातपैस्तैरेवंविधैस्तैश्च निपात्यमानैः ।
नैवासनाच्छाक्यमुनिश्चचाल स्वनिश्चयं बन्धुमिवोपगुह्य ॥४३॥

यद्यपि शरीर व मन के लिए ऐसी विपत्तियाँ व पीड़ाएँ दी जा रही थीं, तो भी अपने निश्चय का बन्धु के समान आलिङ्गन कर शाक्य-मुनि आसन से विचलित नहीं हुआ ॥ ४३ ॥

अथापरे निर्जिगिलुर्मुखेभ्यः सर्पान्विजीर्णेभ्य इव द्रुमेभ्यः ।
ते मन्त्रबद्धा इव तत्समीपे न शश्वसुर्नोत्ससृपुर्न चेलुः ॥४४॥

तब दूसरों ने अपने मुखों से, जैसे जीर्ण वृक्षों से, साँप उगले । वे

मानो मंत्र-बद्ध होकर उसके समीप न फुफकारे, न ऊपर उठे और न चले ॥ ४४ ॥

भूत्वापरे वारिधरा बृहन्तः सविद्युतः साशनिचण्डघोषाः ।
तस्मिन्द्रुमे तत्यजुरश्मवर्षं तत्पुष्पवर्षं रुचिरं बभूव ॥ ४५॥

वज्र के प्रचण्ड घोष तथा बिजली से युक्त विशाल बादल बनकर दूसरों ने उस वृक्ष पर अश्म-वृष्टि की, जो रुचिर पुष्प-वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥ ४५ ॥

चापेऽथ बाणो निहितोऽपरेण जज्वाल तत्रैव न निष्पपात ।
अनीश्वरस्यात्मनि धूयमानो दुर्मर्षणस्येव नरस्य मन्युः ॥४६॥

दूसरे ने धनुष पर बाण रखा, जो वहीं प्रज्वलित हुआ, छूटा नहीं, जैसे ऐश्वर्य-रहित क्रोधी मनुष्य का क्रोध अपने में ही वीजित होता है, वहीं धधकता है, निकलता नहीं है ॥ ४६ ॥

पञ्चेषवोऽन्येन तु विप्रमुक्तास्तस्थुर्नभस्येव मुनौ न पेतुः ।
संसारभीरोर्विषयप्रवृत्तौ पञ्चेन्द्रियाणीव परीक्षकस्य ॥४७॥

दूसरे के द्वारा छोड़े गये पाँच बाण आकाश में ही रहे, मुनि पर गिरे नहीं, जैसे विषय उपस्थित होने पर संसार (= जन्म-चक्र) से डरनेवाले पारखी की पाँचो इन्द्रियाँ स्थिर रहती हैं, पतित नहीं होती हैं ॥४७॥

जिघांसयान्यः प्रससार रुष्टो गदां गृहीत्वाभिमुखो महर्षेः ।
सोऽप्राप्तकामो विवशः पपात दोषेष्विवानर्थकरेषु लोकः ॥४८॥

दूसरा हत्या करने की इच्छा से रुष्ट हो गदा लेकर महर्षि के सामने दौड़ पड़ा; वह विफल-मनोरथ विवश होकर गिर पड़ा, जैसे (विफल-मनोरथ) जगत् (विवश होकर) अनर्थकारी दोषों में गिरता है ॥ ४८ ॥

स्त्री मेघकाली तु कपालहस्ता कर्तुं महर्षेः किल चित्तमोहम् ।
बभ्राम तत्रानियतं न तस्थौ चलात्मनो बुद्धिरिवागमेषु ॥४९॥

मेघ के समान काली स्त्री हाथ में कपाल लेकर महर्षि का चित्त-मोह करने के लिए वहाँ अनियन्त्रित होकर घूमी, खड़ी नहीं रही, जैसे चञ्चल

मनवाले की बुद्धि (विविध) शास्त्रों में अनिश्चित होकर भटकती है, स्थिर नहीं होती है ॥ ४६ ॥

कश्चित्प्रदीप्तं प्रणिधाय चक्षुर्नेत्राग्निनाशीविषवद्दिधक्षुः ।
तत्रैव नासीनमृषिं ददर्श कामात्मकः श्रेय इवोपदिष्टम् ॥५०॥

किसीने जलती आँखें (उसकी ओर) स्थिर करके आँखों की अग्नि से साँप के समान उसे जलाना चाहा; किंतु वहीं पर बैठे हुए ऋषि को देखा नहीं, जैसे कामात्मा पुरुष बताये हुए कल्याण को नहीं देखता है ॥५०॥

गुर्वीं शिलामुद्यमयंस्तथान्यः शश्राम मोघं विहतप्रयत्नः ।
निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायक्लमैर्धर्ममिवाप्तुकामः ॥५१॥

भारी शिला को उठाते हुए दूसरे ने व्यर्थ श्रम किया, उसका प्रयत्न नष्ट हुआ, जैसे ज्ञान व समाधि से प्राप्य धर्म को शारीरिक क्लेशों से पाने की इच्छा करनेवाला व्यर्थ श्रम करता है, उसका प्रयत्न नष्ट होता है ॥५१॥

तरक्षुसिंहाकृतयस्तथान्ये प्रणेदुरुच्चैर्महतः प्रणादान् ।
सत्त्वानि यैः संचुकुचुः समन्ताद्वज्राहता द्यौः फलतीति मत्वा ॥५२॥

तेंदुए और सिंह की आकृतिवाले दूसरों ने जोरों से महा-गर्जन किये, जिनसे जीव (डर के मारे) चारो ओर सिकुड़ गये, यह समझकर कि वज्र से आहत होकर आकाश फट रहा है ॥ ५२ ॥

मृगा गजाश्चार्तरवान् सृजन्तो विदुद्रुवुश्चैव निलिल्यिरे च ।
रात्रौ च तस्यामहनीव दिग्भ्यः खगा रुवन्तः परिपेतुरार्ताः ॥५३॥

मृग और हाथी आर्त-नाद करते हुए दौड़कर छिप गये और उस रात को दिन की तरह पक्षीगण आर्त होकर बोलते हुए चारों ओर घूमे ॥५३॥

तेषां प्रणादैस्तु तथाविधैस्तैः सर्वेषु भूतेष्वपि कम्पितेषु ।
मुनिर्न तत्रास न संचुकोच रवैर्गरुत्मानिव वायसानाम् ॥ ५४ ॥

किंतु उनके वैसे उन शब्दों से सब जीवों के काँपने पर भी मुनि न डरा, न सिकुड़ा, जैसे कौओं के शब्दों से गरुड़ न डरता है, न सिकुड़ता है ॥ ५४ ॥

भयावहेभ्यः परिषद्गणेभ्यो यथा यथा नैव मुनिर्बिभाय ।
तथा तथा धर्मभृतां सपत्नः शोकाच्च रोषाच्च ससाद मारः ॥ ५५ ॥

भय-प्रद परिषद्-गणों से जैसे जैसे मुनि नहीं डरा, वैसे वैसे धर्म-पालकों के शत्रु मार को शोक और रोष से ग्लानि हुई ॥ ५५ ॥

भूतं ततः किंचिददृश्यरूपं विशिष्टभूतं गगनस्थमेव ।
दृष्ट्वर्षये द्रुग्धमवैररुष्टं मारं बभाषे महता स्वरेण ॥ ५६ ॥

तब अदृश्यरूप किसी विशिष्ट जीव ने आकाश से ही ऋषि के प्रति द्रोही व बिना वैर के ही रुष्ट हुए मार को देखकर गम्भीर स्वर में कहा:— ॥ ५६ ॥

मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं हिंस्रात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म ।
नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मेरुरिवानिलेन ॥ ५७ ॥

"हे मार, तुम्हें व्यर्थ श्रम नहीं करना चाहिए, हिंसा-भाव छोड़ो और शान्त हो जाओ; क्योंकि तुम इसे कँपा नहीं सकते, जैसे हवा से महा-पर्वत मेरु नहीं कँपाया जा सकता ॥ ५७ ॥

अप्युष्णभावं ज्वलनः प्रजह्यादापो द्रवत्वं पृथिवी स्थिरत्वम् ।
अनेककल्पाचितपुण्यकर्मा न त्वेव जह्याद्व्यवसायमेषः ॥ ५८ ॥

अग्नि उष्णता छोड़ दे, पानी द्रवत्व छोड़ दे, पृथिवी स्थिरता छोड़ दे; किंतु यह, जिसने अनेक कल्पों में पुण्य एकत्र किये हैं, अपना निश्चय न छोड़ेगा ॥ ५८ ॥

यो निश्चयो ह्यस्य पराक्रमश्च तेजश्च यद्या च दया प्रजासु ।
अप्राप्य नोत्थास्यति तत्त्वमेष तमांस्यहत्वेव सहस्ररश्मिः ॥५९॥

क्योंकि इसका जो निश्चय है, जो पराक्रम है, जो तेज है और जीवों के प्रति जो दया है, (उससे तो यही जान पड़ता है कि) तत्त्व को प्राप्त किये बिना यह नहीं उठेगा जैसे अन्धकार को नष्ट किये बिना सूर्य नहीं उगता है ॥ ५९ ॥

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं भूमिं खनन्विन्दति चापि तोयम् ।
निर्बन्धिनः किंचन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥६०॥

काठ को रगड़नेवाला (आदमी) अग्नि प्राप्त करता है और पृथिवी को खोदनेवाला जल प्राप्त करता है । हठी (=आग्रही) के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है । उचित तरीके के साथ करने पर सब कुछ किया जा सकता है ॥ ६० ॥

तल्लोकमार्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्तमानम् ।
महाभिषङ् नार्हति विघ्नमेष ज्ञानौषधार्थं परिखिद्यमानः ॥६१॥

राग आदि रोगों में पड़े हुए आर्त जगत् के ऊपर करुणा करनेवाला महावैद्य ज्ञानरूपी ओषधि के लिए कष्ट उठा रहा है, इसलिए यह विघ्न के योग्य नहीं है ॥ ६१ ॥

हृते च लोके बहुभिः कुमार्गैः सन्मार्गमन्विच्छति यः श्रमेण ।
स दैशिकः क्षोभयितुं न युक्तं सुदेशिकः सार्थ इव प्रनष्टे ॥६२॥

अनेक कुमार्गोंद्वारा संसार का हरण होने पर जो श्रमपूर्वक सन्मार्ग को खोज रहा है उस उपदेशक (=पथ-प्रदर्शक) को क्षुब्ध करना उचित नहीं, जैसे काफिले के भटकने पर पथ-प्रदर्शक को क्षुब्ध करना ठीक नहीं ॥ ६२ ॥

सत्त्वेषु नष्टेषु महान्धकारे ज्ञानप्रदीपः क्रियमाण एषः ।
आर्यस्य निर्वापयितुं न साधु प्रज्वाल्यमानस्तमसीव दीपः ॥६३॥

महा-अन्धकार में जीवों के भटकने पर यह ज्ञान-प्रदीप हो रहा है; अंधेरे में जलाये जाते दीप के समान उसे निर्वापित करना (=शान्त करना, मार डालना, बुझाना) आर्य के लिए ठीक नहीं ॥ ६३ ॥

दृष्ट्वा च संसारमये महौघे मग्नं जगत्पारमविन्दमानम् ।
यश्चेदमुत्तारयितुं प्रवृत्तः कश्चिन्तयेत्तस्य तु पापमार्यः ॥६४॥

जन्म-चक्र रूपी महाबाढ़ में डूबा हुआ जगत् पार नहीं पा रहा है;

यह देखकर इसे उबारने में जो लगा हुआ है उसके प्रति पाप कर्म की चिन्ता कौन आर्य पुरुष करेगा ? ॥ ६४ ॥

क्षमाशिफो धैर्यविगाढमूलश्चारित्रपुष्पः स्मृतिबुद्धिशाखः ।
ज्ञानद्रुमो धर्मफलप्रदाता नोत्पाटनं ह्यर्हति वर्धमानः ॥६५॥

यह बढ़ता हुआ ज्ञान-वृक्ष—क्षमा ही जिसकी जटा है, धैर्य ही जिसका गहरा मूल है, चारित्र ही जिसके फूल है, स्मृति व बुद्धि ही जिसकी शाखाएँ हैं और जो धर्मरूपी फल देता है—काटे जाने योग्य नहीं ॥ ६५ ॥

बद्धां दृढैश्चेतसि मोहपाशैर्यस्य प्रजां मोक्षयितुं मनीषा ।
तस्मिन् जिघांसा तव नोपपन्ना श्रान्ते जगद्बन्धनमोक्षहेतोः ॥६६॥

मन में मोह के दृढ़ बन्धनों से बँधे हुए जीवों को यह मुक्त करना चाहता है; जगत् का बन्धन खोलने के लिए श्रम करनेवाले उस मुनि को मार डालने की तुम्हारी इच्छा उचित नहीं ॥ ६६ ॥

बोधाय कर्माणि हि यान्यनेन कृतानि तेषां नियतोऽद्य कालः ।
स्थाने तथास्मिन्नुपविष्ट एष यथैव पूर्वे मुनयस्तथैव ॥६७॥

इसने बुद्धत्व के लिए जो कर्म किये उनके पकने का आज नियत समय है। इस स्थान पर यह उसी प्रकार बैठा हुआ है, जिस प्रकार पूर्व के मुनि बैठे थे ॥ ६७ ॥

एषा हि नाभिर्वसुधातलस्य कृत्स्नेन युक्ता परमेण धाम्ना ।
भूमेरतोऽन्योऽस्ति हि न प्रदेशो वेगं समाधेर्विषहेत योऽस्य ॥६८॥

यह भूतल की नाभि है जो समस्त उत्तम प्रभाव से युक्त है; क्योंकि इस भूमि के अतिरिक्त दूसरा स्थान नहीं, जो इसकी समाधि का वेग सह सके ॥ ६८ ॥

तन्मा कृथाः शोकमुपेहि शान्तिं मा भून्महिम्ना तव मार मानः ।
विश्रम्भितुं न क्षममध्रुवा श्रीश्चले पदे किं मदमभ्युपैषि ॥६९॥

इसलिए शोक मत करो, शान्त हो जाओ; हे मार, अपनी महिमा

का अभिमान मत करो। चपल श्री पर विश्वास करना उचित नहीं; अपनी स्थिति अस्थिर होने पर क्यों मद कर रहे हो?" ॥ ६९ ॥

ततः स संश्रुत्य च तस्य तद्वचो महामुनेः प्रेक्ष्य च निष्प्रकम्पताम्।
जगाम मारो विमनो हतोद्यमः शरैर्जगच्चेतसि यैर्विहन्यते ॥७०॥

तब उसकी यह बात सुनकर और महामुनि की स्थिरता देखकर, विफल-प्रयत्न मार, उदास होकर अपने उन तीरों के साथ, जिनसे लोगों का चित्त घायल किया जाता है, चला गया ॥ ७० ॥

गतप्रहर्षा विफलीकृतश्रमा प्रविद्धपाषाणकडङ्गरद्रुमा।
दिशः प्रदुद्राव ततोऽस्य सा चमूर्हताश्रयेव द्विषता द्विषच्चमूः ॥७१॥

तब उसकी वह सेना, जिसका आनन्द दूर हो गया था, जिसका श्रम विफल कर दिया था, जिसके पत्थर कुन्दे और वृक्ष विद्ध पड़े थे, चारों ओर वैसे ही भाग गई जैसे शत्रु-द्वारा नायक के मारे जाने पर विपक्षी सेना (भाग जाती है) ॥ ७१ ॥

द्रवति सपरिपक्षे निर्जिते पुष्पकेतौ
जयति जिततमस्के नीरजस्के महर्षौ।
युवतिरिव सहासा द्यौश्चकाशे सचन्द्रा
सुरभि च जलगर्भं पुष्पवर्षं पपात ॥७२॥

जब अपने पक्ष के साथ पराजित होकर, मार भाग गया और जब (अज्ञानरूपी) अन्धकार को जीतनेवाला निर्मल (=राग-रहित) महर्षि विजयी हुआ, तब चन्द्र-युक्त आकाश हँसती युवती के समान शोभित हुआ और सुगन्धित जल-पूर्ण वृष्टि हुई ॥ ७२ ॥

तथापि पापीयसि निर्जिते गते दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः।
दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्टयो रराज योषेव विकल्मषा निशा ॥७३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते मारविजयो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

६९—"विस्मय" के स्थान में "किं मद" रक्खा गया है।

उस प्रकार वह पापी जब हार कर चला गया, तब दिशाएँ प्रसन्न हुईं, चन्द्रमा शोभित हुआ, आकाश से पृथिवी पर पुष्प-वृष्टि हुई और निष्पाप स्त्री के समान निर्मल रात्रि की शोभा हुई ॥ ७३ ॥

अश्वघोष-कृत बुद्धचरित महाकाव्य का "मार की पराजय"
नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त ।

———

७३—यह श्लोक चीनी अनुवाद में नहीं है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त बताते हैं। कीथ ने "संस्कृत साहित्य के इतिहास" में "अश्वघोष की शैली व भाषा" के अन्तर्गत इसे उद्धृत किया है।

चौदहवाँ सर्ग

बुद्धत्व-प्राप्ति

ततो मारबलं जित्वा धैर्येण च शमेन च।
परमार्थं विजिज्ञासुः स दध्यौ ध्यानकोविदः ॥ १ ॥

तब धैर्य और शान्ति से मार की सेना को जीत कर परमार्थ जानने की इच्छा से उस ध्यान-पटु ने ध्यान किया ॥ १ ॥

सर्वेषु ध्यानविधिषु प्राप्य चैश्वर्यमुत्तमम्।
सस्मार प्रथमे यामे पूर्वजन्मपरंपराम् ॥ २ ॥

और सब ध्यान विधियों पर उत्तम स्वामित्व (= अधिकार) प्राप्त कर प्रथम पहर में पूर्व-जन्मों की परम्परा का स्मरण किया ॥ २ ॥

अमुत्राहमयं नाम च्युतस्तस्मादिहागतः।
इति जन्मसहस्राणि सस्मारानुभवन्निव ॥ ३ ॥

"वहाँ मैं यह था, वहाँ से गिर कर यहाँ आया" इस तरह हजारों जन्मों को मानो अनुभव करते हुए स्मरण किया ॥ ३ ॥

स्मृत्वा जन्म च मृत्युं च तासु तासूपपत्तिषु।
ततः सत्त्वेषु कारुण्यं चकार करुणात्मकः ॥ ४ ॥

तब उन उन जन्मों में उत्पत्ति व मौत का स्मरण कर करुणात्मक ने जीवों पर करुणा की ॥ ४ ॥

कृत्वेह स्वजनोत्सर्गं पुनरन्यत्र च क्रियाः।
अत्राणः खलु लोकोऽयं परिभ्रमति चक्रवत् ॥ ५ ॥

यहाँ स्वजनों को छोड़, अन्यत्र (जन्म लेकर) कर्म करता है;

इस तरह अवश्य ही यह संसार रक्षा-रहित है और पहिए के समान घूमता रहता है ॥ ५ ॥

इत्येवं स्मरतस्तस्य बभूव नियतात्मनः ।
कदलीगर्भनिःसारः संसार इति निश्चयः ॥ ६ ॥

इस प्रकार स्मरण करते हुए उस निश्चितात्मा को यह निश्चय हुआ—"कदली-गर्भ (=केले के पेड़ के भीतरी भाग) के समान संसार असार है" ॥ ६ ॥

द्वितीये त्वागते यामे सोऽद्वितीयपराक्रमः ।
दिव्यं लेभे परं चक्षुः सर्वचक्षुष्मतां वरः ॥ ७ ॥

दूसरा पहर आने पर उस अद्वितीय पराक्रमवाले ने, जो सब दृष्टिवानों में श्रेष्ठ था, परम दिव्य चक्षु पाया ॥ ७ ॥

ततस्तेन स दिव्येन परिशुद्धेन चक्षुषा ।
ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले ॥ ८ ॥

तब उस अत्यन्त शुद्ध दिव्य चक्षु से उसने समस्त जगत् को इस तरह देखा, जैसे निर्मल दर्पण में देख रहा हो ॥ ८ ॥

सत्त्वानां पश्यतस्तस्य निकृष्टोत्कृष्टकर्मणाम् ।
प्रच्युतिं चोपपत्तिं च ववृधे करुणात्मता ॥ ९ ॥

निकृष्ट व उत्कृष्ट कर्मवाले जीवों का पतन व जन्म देखते हुए उसकी करुणा बढ़ी ॥ ९ ॥

इमे दुष्कृतकर्माणः प्राणिनो यान्ति दुर्गतिम् ।
इमेऽन्ये शुभकर्माणः प्रतिष्ठन्ते त्रिपिष्टपे ॥ १० ॥

ये पाप-कर्मवाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं, ये दूसरे शुभ-कर्म-वाले स्वर्ग में स्थान पाते हैं ॥ १० ॥

उपपन्नाः प्रतिभये नरके भृशदारुणे ।
अमी दुःखैर्बहुविधैः पीड्यन्ते कृपणं बत ॥ ११ ॥

अत्यन्त दारुण व भयावह नरक में उत्पन्न होकर वे (पापी) अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित होते हैं ॥ ११ ॥

पाय्यन्ते क्वथितं केचिदग्निवर्णमयोरसम् ।
आरोप्यन्ते रुवन्तोऽन्ये निष्टप्तस्तम्भमायसम् ॥१२॥

कुछ लोगों को पिघले हुए लोहे का पानी, जो आग के रंग का होता है, पिलाया जाता है; चिल्लाते हुए दूसरों को लोहे के तपे खम्भे पर चढ़ाया जाता है ॥ १२ ॥

पच्यन्ते पिष्टवत्केचिदयस्कुम्भीष्ववाङ्मुखाः ।
दह्यन्ते करुणं केचिद्दीप्तेष्वङ्गारराशिषु ॥१३॥

कोई कोई लोहे के कड़ाहों में औंधे मुख, पुए के समान, पकाये जाते हैं; कोई कोई जलते अँगारों के ढेर पर कष्टपूर्वक जलाये जाते हैं ॥ १३ ॥

केचित्तीक्ष्णैरयोदंष्ट्रैर्भक्ष्यन्ते दारुणैः श्वभिः ।
केचिद्धृष्टैरयस्तुण्डैर्वायसैरायसैरिव ॥१४॥

कोई कोई लोहे के दाँतवाले तीक्ष्ण व दारुण कुत्तों द्वारा, भक्षित होते हैं; कोई कोई लोहे की ढीठ चोंचों (=चञ्चुओं) द्वारा, मानो लोहे के बने कौओं द्वारा, खाये जाते हैं ॥ १४ ॥

केचिद्दाहपरिश्रान्ताः शीतच्छायाभिकाङ्क्षिणः ।
असिपत्रवनं नीलं बद्धा इव विशन्त्यमी ॥१५॥

कोई कोई दाह से थककर शीतल छाया की आकांक्षा करते हैं; वे नीले असि-पत्र-वन में (=तलवारों के वन में) बन्दी के समान प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

पाट्यन्ते दारुवत्केचित्कुठारैर्बद्धबाहवः ।
दुःखेऽपि न विपच्यन्ते कर्मभिर्धारितासवः ॥ १६ ॥

कुछ, जिनकी भुजाएँ बँधी रहती हैं, कुठारोंद्वारा लकड़ी के समान चीरे जाते हैं। दुख में भी उनका अन्त नहीं होता है; कर्मों से उनके प्राण धारण किये जाते हैं ॥ १६ ॥

सुखं स्यादिति यत्कर्म कृतं दुःखनिवृत्तये ।
फलं तस्येदमवशैर्दुःखमेवोपभुज्यते ॥१७॥

"सुख होगा" इस आशा से दुःख-निवृत्ति के लिए उन्होंने जो कर्म किया था उसका यह दुःखमय फल ही वे बेचारे भोगते हैं ॥ १७ ॥

सुखार्थमशुभं कृत्वा य एते भृशदुःखिताः ।
आस्वादः स किमेतेषां करोति सुखमण्वपि ॥ १८ ॥

सुख पाने के लिए अशुभ (कर्म) करके जो ये अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, क्या (अशुभ का) वह आस्वाद थोड़ा-सा भी सुख इन्हें देता है ? ॥ १८ ॥

हसद्भिर्यत्कृतं कर्म कलुषं कलुषात्मभिः ।
एतत्परिणते काले क्रोशद्भिरनुभूयते ॥ १९ ॥

पापात्मा हँसते हुए जो पाप-कर्म करते हैं, समय पकने पर (उसका) यह (फल) वे रोते हुए अनुभव करते हैं ॥ १९ ॥

यद्येवं पापकर्माणः पश्येयुः कर्मणां फलम् ।
वमेयुरुष्णं रुधिरं मर्मस्वभिहता इव ॥ २० ॥

यदि पाप-कर्म करनेवाले अपने कामों का ऐसा फल देखें, तो मर्म-स्थल में घायल हुए के समान उष्ण रुधिर वमन करें ॥ २० ॥

इमेऽन्ये कर्मभिश्चित्रैश्चित्तविस्पन्दसंभवैः ।
तिर्यग्योनौ विचित्रायामुपपन्नास्तपस्विनः ॥ २१ ॥

ये दूसरे बेचारे चित्त की चञ्चलता से होनेवाले विविध कर्मों के कारण पशु पक्षियों की विविध योनि में उत्पन्न होते हैं, ॥ २१ ॥

मांसत्वग्बालदन्तार्थं वैरादपि मदादपि ।
हन्यन्ते कृपणं यत्र बन्धूनां पश्यतामपि ॥ २२ ॥

जहाँ मांस त्वचा बाल व दाँत के लिए, या वैर व मद से भी और बन्धुओं के देखते रहने पर भी वे दीनतापूर्वक मारे जाते हैं ॥ २२ ॥

अशक्नुवन्तोऽप्यवशाः क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः ।
गोऽश्वभूताश्च वाह्यन्ते प्रतोदक्षतमूर्तयः ॥२३॥

और बैल-घोड़े होने पर, भूख प्यास व थकावट की पीड़ा से विवश व अशक्त होने पर भी, वे अङ्कुशों से क्षत-शरीर (घायल) होते हुए हाँके जाते हैं ॥ २३ ॥

वाह्यन्ते गजभूताश्च बलीयांसोऽपि दुर्बलैः ।
अङ्कुशक्लिष्टमूर्धानस्ताडिताः पादपार्ष्णिभिः ॥२४॥

और हाथी होकर, बलवान् होने पर भी, दुर्बलोंद्वारा अङ्कुशो से मस्तकों पर क्लेश पाते हुए तथा पाँवों व एड़ियों से ताड़ित होते हुए हाँके जाते हैं ॥ २४ ॥

सत्स्वप्यन्येषु दुःखेषु दुःखं यत्र विशेषतः ।
परस्परविरोधाच्च पराधीनतयैव च ॥२५॥

अन्य दुःखों के रहने पर भी वहाँ (पशु-पक्षियों की योनि में) परस्पर-विरोध और पराधीनता के कारण विशेष दुःख है ॥ २५ ॥

खस्थाः खस्थैर्हि बाध्यन्ते जलस्था जलचारिभिः ।
स्थलस्थाः स्थलसंस्थैश्च प्राप्य चैवेतरेतरैः ॥२६॥

आकाश-वासी आकाश-वासियों द्वारा, जल-वारी जल-चारियों द्वारा, स्थल-वासी स्थल-वासियों द्वारा परस्पर पीड़ित होते हैं ॥ २६ ॥

उपपन्नास्तथा चेमे मात्सर्याक्रान्तचेतसः ।
पितृलोके निरालोके कृपणं भुञ्जते फलम् ॥२७॥

उसी प्रकार ये, जिनके चित्त परस्पर-द्वेष से आक्रान्त रहते हैं, आलोक-रहित प्रेत-लोक में उत्पन्न होकर दीनतापूर्वक कर्म-फल भोगते हैं ॥ २७ ॥

सूचीछिद्रोपममुखाः पर्वतोपमकुक्षयः ।
क्षुत्तर्षजनितैर्दुःखैः पीड्यन्ते दुःखभागिनः ॥२८॥

सूई के छेद के समान मुखवाले और पर्वत के समान पेटवाले ये दुःख-भागी भूख-प्यास से उत्पन्न दुःखों से पीड़ित होते हैं ॥ २८ ॥

आशया समतिक्रान्ता धार्यमाणाः स्वकर्मभिः ।
लभन्ते न ह्यमी भोक्तुं प्रविद्धान्यशुचीन्यपि ॥२९॥

आशाद्वारा अतिक्रमण किये जाने पर (अर्थात् निराश होने पर) भी, वे कर्मों द्वारा धारण किये जाते हैं ; फेंकी गई अपवित्र वस्तु भी खाने को वे नहीं पाते ॥ २९ ॥

पुरुषो यदि जानीत मात्सर्यस्येदृशं फलम् ।
सर्वथा शिबिवद्दद्याच्छरीरावयवानपि ॥३०॥

पुरुष यदि द्वेष का ऐसा फल जानता, तो सब प्रकार से शिबि के समान अपने शरीर के अवयव भी दान कर देता ॥ ३० ॥

इमेऽन्ये नरकप्रख्ये गर्भसंज्ञेऽशुचिह्रदे ।
उपपन्ना मनुष्येषु दुःखमर्छन्ति जन्तवः ॥३१॥

* * * *

ये दूसरे जन्तु नरकतुल्य गर्भ-नामक अपवित्र सरोवर में उत्पन्न होकर मनुष्यों के बीच दुःख पाते हैं ॥ ३१ ॥

शुरु में जन्म-घड़ी में ही तीक्ष्ण हाथों में पकड़े जाते हुए, मानो तेज तलवारों से काटे जाते हुए, वे खूब रोते हैं ॥ ३२ ॥

स्वजन उन्हें प्यार करते हैं, उनका पालन-पोषण व रक्षा करते हैं, अत्यन्त सावधानी से संवर्धन करते हैं, और पीछे दुःख से महादुःख में जाते हुए वे अपने ही विविध कर्मों से कलुषित ही होते हैं ॥ ३३ ॥

और इस अवस्था में तृष्णा से आक्रान्त मूर्ख "यह करना है और वह करना है" इस तरह अधिकाधिक चिन्ता करते हुए, निरन्तर बहती धारा में बहते रहते हैं ॥ ३४ ॥

ये दूसरे, जिन्होंने पुण्य संचय किये हैं, स्वर्ग में जन्म लेते हैं और काम की ज्वालाओं से इस तरह जलते हैं जैसे आग में जल रहे हों ॥३५॥

और विषयों में अतृप्त ही वे वहाँ से गिरते हैं, उनकी आँखें ऊपर

लगी रहती हैं, वे निस्तेज रहते हैं और अपनी मालाओं के मुरझाने से दुःखी होते हैं ॥ ३६ ॥

जब अप्सराओं के प्रेमी असहाय होकर गिरते हैं, तब वे करुणापूर्वक उन्हें देखती हैं और अपने हाथों से उनके वस्त्र पकड़ती हैं ॥ ३७ ॥

विमानों से दीनतापूर्वक गिरते हुए प्रेमियों को पकड़ने की कोशिश करते समय, कुछ अप्सराएँ ऐसे देख पड़ती हैं जैसे झूलती हुई मोती की लड़ियों के साथ वे पृथ्वी पर गिर रही हों ॥ ३८ ॥

दूसरी, भाँति भाँति की मालाएँ व गहने पहन कर, अपने प्रेमियों के दुःख में पड़ने से शोकित होकर, सहानुभूतिपूर्वक चञ्चल आँखों से उनका अनुसरण करती हैं ॥ ३९ ॥

उन गिरनेवालों के प्रति प्रेम होने से अप्सराएँ हाथों से छाती पीटती हैं और मानो महा-पीड़ा से पीड़ित होकर उनमें आसक्त रहती हैं ॥ ४० ॥

स्वर्ग में रहनेवाले "हा, चैत्ररथ वन ! हा, दिव्य सरोवर ! हा, मन्दाकिनी ! हा, प्रेयसी !" इस तरह विलाप करते हुए आर्त होकर पृथ्वी पर गिरते हैं ॥ ४१ ॥

यह देखते हुए कि उतने परिश्रम से प्राप्त होनेवाला स्वर्ग अनिश्चित व क्षणिक है और इससे वियोग होने पर ऐसा दुःख होता है, ॥ ४२ ॥

जगत् में यह नियम विशेष रूप से ध्रुव है; जगत् का यह स्वभाव है और तो भी लोग इसे ऐसा नहीं देखते ॥ ४३ ॥

दूसरे, जिन्होंने काम से अपने को अलग रखा है, अपने मन में निश्चय करते हैं कि उनका निवास शाश्वत है; तो भी वे स्वर्ग से दीनतापूर्वक गिरते हैं ॥ ४४ ॥

नरकों में अत्यन्त कष्ट है, पशुओं के बीच परस्पर भक्षण होता है,

---

४१—हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये ।
इत्यार्ता विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः ॥ सौ० ग्यारह ५० ।

प्रेतों के बीच भूख-प्यास का दुःख है, मनुष्यों के बीच तृष्णाओं का दुःख है ॥ ४५ ॥

प्रेम-मुक्त स्वर्गों में पुनर्जन्म का दुःख बहुत है। निरंतर भ्रमणशील जीव-लोक के लिए निश्चय ही कहीं भी शान्ति नहीं ॥ ४६ ॥

संसार-चक्र की यह धारा निराधार है और मरणशील है। इस तरह चारों ओर से घिरे हुए जीव कहीं विश्राम-भूमि नहीं पाते हैं ॥४७॥

इस तरह दिव्य दृष्टि से उसने पाँच जीव-लोकों का निरीक्षण किया और जीवन में कुछ भी सारवान् नहीं पाया, जैसे काटे जाने पर केले के पेड़ में कुछ सार नहीं मिलता है ॥ ४८ ॥

रात्रि का तीसरा पहर समीप आने पर, उस उत्तम ध्यान-ज्ञ ने जगत् के सच्चे स्वभाव के बारे में ध्यान किया:—॥ ४९ ॥

"अहो! जीवित प्राणी केवल थकावट पाते हैं, बार बार जन्म लेते हैं, बूढ़े होते हैं, मरकर चले जाते हैं और फिर जन्म लेते हैं ॥ ५० ॥

और मनुष्य की दृष्टि काम व मोहान्धकार से ढकी रहती है और अपनी अन्धता की अधिकता से वह इस महादुःख से निकलने का मार्ग नहीं जानता है।" ॥ ५१ ॥

इस तरह विचार कर उसने अपने मन में सोचा, "सचमुच में यह क्या है, जिसका अस्तित्व जरा-मरण का कारण है?" ॥ ५२ ॥

सत्य की गहराई तक प्रवेश कर उसने समझा कि जन्म होने से जरा-मरण की उत्पत्ति होती है ॥ ५३ ॥

उसने देखा कि शिर होने पर ही शिर-दर्द संभव है; क्योंकि वृक्ष का जन्म होने पर ही, यह काटकर गिराया जा सकता है ॥ ५४ ॥

तब उसने फिर सोचा, "यह जन्म किससे होता है?" तब उसने ठीक ठीक देखा कि कर्मभव से जन्म होता है ॥ ५५ ॥

अपनी दिव्य दृष्टि से उसने देखा कि प्रवृत्ति (=जीवन) कर्म से होती है, न कि स्रष्टा से या प्रकृति से या आत्मा से या अकारण ही ॥५६॥

जैसे बाँस की पहली गिरह बुद्धिमानी से काटने पर सब तेजी से ठीक हो जाता है (अर्थात् शेष बाँस अच्छी तरह चीरा जाता है), वैसे ही उसका ज्ञान उचित क्रम से बढ़ा ॥ ५७ ॥

तब ऋषि ने भव का कारण निश्चित करने में अपना मन लगाया। तब उसने देखा कि भव का कारण उपादान में पाया जाता है ॥ ५८ ॥

जीवन के विविध शील-व्रतों, काम, आत्म-वाद और असम्यक् दृष्टि ग्रहण करने से यह कर्म (उपादान) होता है, जैसे जलावन ग्रहण करने से अग्नि उत्पन्न होती है ॥ ५९ ॥

तब उसने सोचा—"उपादान किस कारण से होता है?" तब उसने पहचाना कि उपादान का प्रत्यय (=कारण) तृष्णा में है ॥ ६० ॥

जैसे हवा का साथ पाकर थोड़ी सी आग से जंगल प्रज्वलित हो जाता है, वैसे ही तृष्णा से काम आदि महापाप होते हैं ॥ ६१ ॥

तब उसने सोचा—"तृष्णा किससे होती है?" तब उसने निश्चय किया कि तृष्णा का कारण वेदना है ॥ ६२ ॥

वेदनाओं से अभिभूत होकर मनुष्य उनकी तृप्ति के उपाय चाहते हैं; क्योंकि प्यास के अभाव में किसी को जल में आनन्द नहीं आता (और प्यास लगने पर ही पानी की चाह होती है) ॥ ६३ ॥

तब उसने फिर ध्यान किया—"वेदना का स्रोत क्या है?" उसने, जिसने वेदना का अन्त कर दिया था, देखा कि वेदना का कारण स्पर्श में है ॥ ६४ ॥

५८—उपादान=भोग-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करनेवाले की तात्कालिक अवस्था—अ० को०।

६२—वेदना=इन्द्रियों और विषयों के स्पर्श से होनेवाली अनुभूति; चक्षु-स्पर्श, श्रोत्र-स्पर्श, घ्राण-स्पर्श, जिह्वा-स्पर्श, काय-स्पर्श और मन-स्पर्श से उत्पन्न होनेवाली वेदना।

स्पर्श की व्याख्या है, "वस्तु, इन्द्रिय और मन का संयोग" जिससे वेदना वैसे ही उत्पन्न होती है, जैसे दो अरणियों और जलावन के संयोग से आग पैदा होती है ॥ ६५ ॥

तब उसने सोचा कि स्पर्श का भी कारण है। इस पर उसने जाना कि कारण छः आयतनों (=काय, मन, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना) में है ॥ ६६ ॥

अन्धा वस्तुओं को नहीं देखता है, क्योंकि उसकी आँख मन के साथ उन (वस्तुओं) का संयोग नहीं कराती है; दृष्टि होने पर संयोग होता है। इसलिये छः आयतनों के होने पर स्पर्श होता है ॥ ६७ ॥

फिर उसने छः आयतनों का कारण जानने का निश्चय किया। तब उस कारण-ज्ञ ने नामरूप को कारण जाना ॥ ६८ ॥

जैसे अङ्कुर का अस्तित्व होने पर ही पत्ते व तने का अस्तित्व होता है, वैसे ही नाम-रूप का अस्तित्व होने पर ही छः आयतन होते हैं॥६९॥

तब उसने सोचा—"नाम-रूप का क्या कारण है?" इस पर उसने, जो ज्ञान के उस पार तक पहुँच चुका था, इसका कारण विज्ञान (=संज्ञा, चेतना) में देखा ॥ ७० ॥

विज्ञान का उदय होने पर नाम-रूप उत्पन्न होता है। बीज का विकास पूरा होने पर अङ्कुर शारीरिक रूप धारण करता है ॥ ७१ ॥

फिर उसने सोचा—"विज्ञान किससे पैदा होता है?" तब उसने जाना कि नाम-रूप का आश्रय लेकर यह पैदा होता है ॥ ७२ ॥

तब निमित्त-नैमित्तिक का क्रम समझने के बाद उसने इस पर विचार किया; उसका मन उसके द्वारा स्थिर किये गये विचारों में विचरा और दूसरी बातों की ओर नहीं गया ॥ ७३ ॥

विज्ञान प्रत्यय है जिससे नाम-रूप पैदा होता है। और नाम-रूप आधार है जिसपर विज्ञान आश्रित है ॥ ७४ ॥

जैसे (जल में) नाव आदमी को ढोती है (और स्थल पर आदमी

नाव को ढोता है), वैसे ही विज्ञान व नाम-रूप एक दूसरे के कारण हैं ॥ ७५ ॥

जैसे तपा हुआ लोहा तृण को प्रज्वलित करता है और प्रज्वलित तृण लोहे को तपाता है, वैसे ही उनका पारस्परिक कार्य-कारण-सम्बन्ध है ॥ ७६ ॥

इस तरह उसने समझा कि विज्ञान से नाम-रूप का उदय होता है, नाम-रूप से आयतन पैदा होते हैं और आयतनों से स्पर्श का उदय होता है ॥ ७७ ॥

उसने जाना कि स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, और वैसे ही उपादान से भव उत्पन्न होता है ॥ ७८ ॥

भव से जन्म होता है, जन्म से जरा-मरण का उदय उसने जाना। उसने ठीक ठीक समझा कि प्रत्ययों से संसार उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

तब उसे यह दृढ़ निश्चय हुआ कि जन्म-विनाश से जरा-मरण का निरोध होता है, भव-विनाश से स्वयं जन्म नष्ट होता है और उपादान के निरोध से भव बन्द हो जाता है ॥ ८० ॥

फिर तृष्णा-निरोध से उपादान का निरोध होता है; यदि वेदना का अस्तित्व नहीं, तो तृष्णा का अस्तित्व नहीं; स्पर्श का नाश होने से वेदना पैदा नहीं होती; छः आयतनों का अस्तित्व नहीं होने पर स्पर्श का नाश होता है ॥ ८१ ॥

उसी प्रकार नाम-रूप का सम्यक् निरोध होने पर छः आयतन भी नष्ट हो जाते हैं; और विज्ञान का निरोध होने से नाम-रूप का निरोध होता है; और संस्कारों का निरोध होने से विज्ञान का निरोध होता है ॥ ८२ ॥

उसी प्रकार महर्षि ने समझा कि अविद्या के सर्वथा अभाव से संस्कारों का निरोध होता है। इसलिए उसने ज्ञेय को उचित रीति से जाना और वह संसार के सामने बुद्ध होकर खड़ा हुआ ॥ ८३ ॥

उस नर-श्रेष्ठ ने भव के ऊपर से नीचे तक कहीं आत्मा को नहीं देखा और परम ज्ञान के अष्टाङ्गिक मार्गद्वारा, जो शुरू होकर जल्द ही इष्ट स्थान को पहुँचता है, शान्ति को प्राप्त किया, जैसे जलावन के जलने पर अग्नि (शान्ति को प्राप्त करती है) ॥ ८४ ॥

तब पूर्णता प्राप्त करने पर उसके मन में यह विचार हुआ—"मैंने यह पूर्ण मार्ग प्राप्त किया है, जिसपर भली-बुरी बातों को जाननेवाले पूर्व के महर्षि-वंश परमार्थ के लिए चले थे ॥ ८५ ॥

चौथे पहर के उस क्षण में जब उषा का आगमन हुआ और जब सब चराचर शांत थे, महर्षि ने अविनाशी पद प्राप्त किया, उत्तम नायक ने सर्वज्ञता प्राप्त की ॥ ८६ ॥

जब बुद्ध होकर उनने इस तत्त्व को जाना, तब मदिरा से माती कामिनी के समान पृथ्वी काँपी, सिद्ध-सङ्घों के साथ दिशाएँ दीप्त हुईं और आकाश में बड़ी बड़ी दुन्दुभियाँ बजीं ॥ ८७ ॥

सुख देनेवाली हवा धीरे धीरे बही, देव ने अनभ्र आकाश से जल-वृष्टि की और वृक्षों ने मानो उनका सम्मान करने के लिए, असमय में फल-फूल गिराये ॥ ८८ ॥

उस समय, जैसे स्वर्ग में, मान्दारव फूल, सुवर्ण व वैदूर्य के कमल व कुमुद आकाश से गिरे और उनसे शाक्य-ऋषि का स्थान भर गया ॥ ८९ ॥

उस क्षण किसी को क्रोध नहीं हुआ, कोई बीमार नहीं था, किसी ने पाप-मार्ग का आश्रय नहीं लिया, किसी ने मन में मद नहीं किया; जगत् इस तरह शान्त हुआ, जैसे उसने पूर्णता प्राप्त की हो ॥ ९० ॥

मोक्ष में प्रवृत्त देव-सङ्घ प्रसन्न हुए, नीचे के लोकों में रहनेवाले जीव भी आनन्दित हुए। धर्म-प्रिय सङ्घ की समृद्धि से धर्म का चारों ओर प्रचार हुआ और जगत्, काम व अज्ञानरूप अंधकार के ऊपर उठा ॥ ९१ ॥

इक्ष्वाकु-वंश के ऋषि, जो पहले मनुष्यों के शासक थे, राजर्षि व महर्षि उसकी सिद्धि से आनन्दित व विस्मित होकर अपने दिव्य विमानों में उनका सम्मान करते हुए खड़े हुए।

अदृश्य जीव-समूहों के महर्षिगण ने ऊँचे स्वर से उनकी स्तुति की और जीव-समूह इस तरह आनन्दित हुआ, जैसे उसकी बढ़ती हो रही हो। किंतु मार वैसे ही निराश हुआ, जैसे किसी महाविपत्ति से पूर्व ॥ ९३ ॥

तब सात दिनों तक, शारीरिक क्लेश से मुक्त होकर, निरंतर निश्चल आँखों से अपने ही चित्त को देखते हुए वह बैठे रहे। "इस स्थान पर मैंने मुक्ति पाई" इस तरह चिन्तन करते हुए उनने अपनी हार्दिक अभिलाषा पूरी की ॥ ९४ ॥

तब ऋषि ने, जो कार्य-कारण का सिद्धान्त समझ चुके थे और जो अनात्मवाद की पद्धति में दृढ़तापूर्वक स्थिर थे, अपने को जगाया, और महाकरुणा से युक्त होकर, जगत् को उसकी शान्ति के लिए अपनी बुद्ध-दृष्टि से देखा ॥ ९५ ॥

जगत् मिथ्या विचारों और व्यर्थ प्रयत्नों में नष्ट हो रहा है, इसकी काम-वासनाएँ अधिक हैं, और मोक्ष-धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, यह देखकर उनने अविचल रहने का निश्चय किया ॥ ९६ ॥

तब अपनी पहली प्रतिज्ञा याद कर उनने शान्ति का उपदेश देने का निश्चय किया। इसपर उनने अपने मन में सोचा कि किस प्रकार कुछ लोगों की काम-वासना अधिक है और दूसरों की कम ॥ ९७ ॥

तब सुगत के मन ने शान्ति का उपदेश करने के लिए निश्चय किया है, यह जानकर स्वर्ग में रहनेवाले दो प्रधान देवों ने जगत् का हित चाहा और वे चमकते हुए उनके समीप गये ॥ ९८ ॥

पाप-परित्यागद्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध कर और उत्तम धर्म को

अपना उत्तम साथी समझकर वह बैठे हुए थे; उन्होंने सम्मानपूर्वक उनकी स्तुति की और जगत् के हित के लिए ये वचन उनसे कहे:—॥ ९९ ॥

"अहो ! क्या संसार इस सौभाग्य के योग्य नहीं कि आपका चित्त जीवों के प्रति करुणा अनुभव करे ? संसार में विविध योग्यताओं के प्राणी हैं, कुछ की काम-वासना अधिक है, कुछ की काम-वासना कम है ॥१००॥

हे मुनि, आपने स्वयं भव-सागर पार कर लिया है, अब दुःख में डूब रहे जगत् को उबारिये, और जैसे कोई बड़ा सेठ धन दान करता है वैसे ही दूसरों को भी आप अपने गुण दीजिए ॥ १०१ ॥

यहाँ कुछ लोग ऐसे हैं जो इह-लोक व पर-लोक में अपने लाभ की बात सोचकर केवल अपने ही हित के लिए काम करते हैं। किंतु इस जगत् या स्वर्ग में ऐसा व्यक्ति दुर्लभ है, जो जगत् के हित के लिए काम करेगा।" ॥ १०२ ॥

इस प्रकार महर्षि से कहकर, वे जिस रास्ते से आये थे उसीसे दिव्य लोक को लौट गये। जब ऋषि ने भी इस भाषण पर विचार किया, तब जगत् की मुक्ति के लिए उनका निश्चय दृढ़ हुआ ॥ १०३ ॥

भिक्षाटन के समय चार दिशाओं के देवों ने ऋषि को भिक्षा-पात्र दिये; उन्हें ग्रहण कर गौतम ने धर्म के लिए उन्हें एक में परिणत कर दिया ॥ १०४ ॥

तब उस समय जाते हुए काफिले के दो सेठों ने अनुकूल देवता से प्रेरित होकर उदात्त चित्त से ऋषि की आनन्दपूर्वक पूजा की और पहले-पहल उन्हें भिक्षा दी ॥ १०५ ॥

मुनि ने सोचा कि अराड और उद्रक रामपुत्र दोनों के चित्त धर्म-ग्रहण करने के योग्य थे; किंतु जब उनने देखा कि दोनों स्वर्गीय हो गये, तब उन्हें पाँच भिक्षुओं का खयाल हुआ ॥ १०६ ॥

तब, जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर करता है वैसे ही अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करने के लिए शान्ति का उपदेश करने की

इच्छा से, गौतम उस धन्य नगर की ओर गये, जो भीमरथ का प्रिय था और जिसके विविध वन वाराणसी से अलङ्कृत हैं ॥ १०७ ॥

तब मुनि ने, जिनकी आँखें वृषभ की-सी थीं और जिनकी चाल मत्त हाथी की-सी थी, लोगों को विनीत करने के लिए काशी देश जाना चाहा और हाथी के समान अपना समूचा शरीर घुमाकर उनने बोधि-वृक्ष पर अपनी निश्चल आँखें स्थिर कीं ॥ १०८ ॥

अश्वघोष-कृत बुद्धचरित महाकाव्य का "बुद्धत्व-प्राप्ति" नामक
चौदहवाँ सर्ग समाप्त ।

---

१०७ — भीमरथः — काशी का एक राजा था ।

सङ्केत-सूची

सौ०	= सौन्दरनन्द	(इ० एच० जौन्सटन)
अ० को०	= अभिधर्म कोष	(राहुल सांकृत्यायन)
बु० वा०	= बुद्धवाणी	(वियोगी हरि)

शुद्धि-पत्र (संस्कृत)

सर्ग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१	४५	श्रूरादयस्	शूरादयस्
१	५०	ब्राह्न्म्या	ब्राह्म्या
१	७४	विपाटवि०	विपाटयि०
१	८४	०शृङ्गी	शृङ्गोः
२	५	साध्वयो	साध्व्यो
२	५	बह्वयो	बह्व्यो
२	१९	०वद्भूव	०वद्बभूव
२	२७	०नरन्द्र०	०नरेन्द्र०
२	२९	विमानेष्वि	विमानेष्विव
३	१०	नीलोत्पलार्धै०	नीलोत्पलार्धं०
३	२१	वातयना०	वातायना०
३	६१	नृणां	नृणां
४	५३	०सचेतस	०मचेतसः
४	६७	०व्रीडा०	०व्रीडा०
४	८३	प्रत्यमाषत	प्रत्यभाषत
४	१०३	०विमुखं	विमुखं
४	१०३	०पश्यत्	०मपश्यत्
५	१	लेमे	लेभे
५	६३	०वद्ध०	०वद्ध०
५	७२	०पार्ष्णि	०पार्ष्णिं
६	२	यदृष्ट्वा	यद्दृष्ट्वा
६	५६	०ववर्ह	०बबर्ह
६	६१	०द्युति०	०द्युति०
६	६८	बह्वौ०	बर्ह्वौ०
७	६	तमिक्षाकु०	तमिक्ष्वाकु०

सर्ग	श्लोक	शुद्ध	अशुद्ध
७	२३	यत्रेन	यत्नेन
७	२८	०शुद्धया	०शुद्धया
८	८	०कुलषर्मेण	०कुलषर्मेण
८	५५	०मध्यौ	०मध्यौ
८	६०	०रुद्धया	०रुद्धया
८	७०	दध्यौ	दध्यौ
८	८३	मोक्तुम्	मोक्तुम्
९	७१	०वनाद्धर्म	०वनाद्धर्म०
१०	१	मव्य०	हव्य०
१०	१	गङ्गां	गङ्गां
११	१	शुद्धः	शुद्धः
११	२७	शत्रो	शत्रोः
११	२९	प्रयत्नै०	प्रयत्नै०
११	३७	ताप०	०तप०
११	६१	सवृणस्य	सघृणस्य
१२	३२	०दुख०	०दुःख०
१२	४०	व्यक्तमेव	व्यक्त०
१२	४३	प्रपच्छ	पप्रच्छ
१२	४८	निगृहण०	निगृह्ण०
१२	९१	भिक्षन्	भिक्षून्
१२	१२१	०गणाः	०गणा
१३	३६	०विधेभ्यः	विधेभ्यो
१३	अन्तिम वाक्य	नास	नाम

(हिन्दी)*

सर्ग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
२	२१	मृग-पुक्त	मृग-युक्त
२	३४	से आसक्त	में आसक्त
३	१९	सुख-कमल	मुख-कमल
३	६४	कुसुवित	कुसुमित
४	६	रूस	रूप
४	२१	तसण	तरुण
४	९२	उदरता	उदारता
५	४१	अवीर	अधीर
६	६	अन्य मनस्क	अन्यमनस्क
६	६	भक्ति	शक्ति
७	२२	कामोपभोम	कामोपभोग
७	२९	मुख	सुख
९	१०	अङ्गिरस	आङ्गिरस
९	७४	उत्पन्न	उत्पन्न, अस्पष्ट
१०	१९	रूप सम्पत्ति	रूप-सम्पत्ति
११	५	वे	वे (धन)
१४	२६	जलवारी	जलचारी
१४	७७	आयतनों	आयतनों
१४	९२	उसकी	उनकी

* इस सूची में कुछ ऐसी साधारण अशुद्धियाँ, जिनका पता आसानी से लग सकता है, नहीं दी गई हैं।